

DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. **Δ287**

152H6

Ac. No. **52857**

Date of release for loan

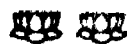
12 Dec 1955

This book should be returned on or before the date stamped last below. An overdue charge of one anna will be charged for each day the book is kept overtime.

अदिति-ब्रह्ममाला

द्वितीय पुष्प

अदिति माता



प्रकाशक
श्रीअरविन्द-निकेतन
एस० एन० सडर्सन एण्ड को०
कनाट सरकस
नयी देहली

२४ अप्रेल १९४६

श्रीअरविन्द आश्रम मुद्रणालय, पांडिचेरी (पृ० १-८)
अदिति मुद्रणालय, नयी देहली (पृ००-८०)

प्राति १०००

मूल्य १)

विषयसूचि

प्रार्थना व ध्यान श्री माताजी ५
'अदिति' नाम श्री अभयदेव ९
अनागसो अदितये स्याम १२
तीनों ओर १८
मां श्री हरिनाम चौधरी ३६
मां का आवाहन-गीत	श्री नारायण प्रसाद ७४
अदिति की पुकार	डा० इंदुमेन ७५
मां ! मैं तेरा	श्री नारायण प्रसाद ८०

वक्तव्य

'अदिति' त्रैमासिक पत्रिका के लेख गम्भीर सांस्कृतिक विषय से सम्बन्ध रखने के कारण पुराने नहीं हो सकते। उनका विषय सामयिक समाचार नहीं होता बल्कि मनुष्यजीवन के गम्भीर तथ्य तथा उन्हें व्यक्त और चरितार्थ करने के उपाय। इसलिये विचार-शील पाठकों के लिये वे सदा ही सार्थक और नये हैं।

अदिति का अब चौथा वर्ष चल रहा है और इसकी पुरानी फाइलों की मांग के सम्बन्ध में हो यह उचित समझा गया कि इसके

लेखों को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जाय । प्रस्तुत पुस्तक में 'अदिति नाम', 'माँ', 'अदिति की पुकार' आदि सब अदिति के सामान्य परिचय रूप ही लेख उपस्थित हैं । 'योग-विचार' नाम की एक दूसरी पुस्तक भी, जिसमें योग-सम्बन्धी लेख होंगे, शीघ्र ही तैयार हो जायगी । हम आशा करते हैं कि पाठक अदितिमाला के पुष्पों को सुगन्धित तथा उपयोगी पायेंगे ।

प्रस्तुत पुस्तक की छपाई में विभिन्नता के लिये हमें खेद है । बात यह है कि इसका अधिकांश भाग देहली में छपा था, शुरू के कुछ पृष्ठ जा वहाँ विशेष परिस्थिति के कारण छूटे रह गये थे श्रीअरविन्द आर्यम प्रेस, पाण्डिचेरी में छपे हैं ।

—इन्द्रसेन

प्रार्थना व ध्यान

ज्योंही मैं अपने आप को सभी सांसारिक दायित्वों से अलग कर लेती हूँ त्योंही इन सब चीजों से संबंध रखने वाले सभी विचार मुझसे कोसों दूर भाग जाते हैं और मैं एकमात्र तथा पूर्ण रूप में तेरे ही चिन्तन एवं तेरी ही सेवा में तल्लीन हो जाती हूँ । और तब पूर्ण शान्ति और आत्मप्रसाद के अन्दर मैं अपनी इच्छा को तेरी इच्छा के साथ युक्त कर देती हूँ, और पूर्ण निश्चलनोरवता के अन्दर मैं तेरे सत्य को प्रकट करने वाली वाणी को सुनती हूँ ।

तेरी दिव्य इच्छा के विषय में मज्जान होने तथा तेरी इच्छा के साथ अपना इच्छा को एकाकार कर देने से ही हम सच्ची स्वतन्त्रता और सर्वशक्तिमता के रहस्य का पता पा सकते हैं, अपनी शक्तियों का पुनः जागरित करने तथा अपनी सत्ता को स्थान्तरित करने के रहस्य का जान सकते हैं ।

तेरे साथ निरन्तर सर्वोत्तीर्ण एकता बनाये रखना ही इस विषय में एकदम निश्चित हो जाना है कि हम सारी बाधाओं को पार कर जायेंगे, बाहरा और भीतरी सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेंगे ।

प्रभु ! हे प्रभु ! असौम आनन्द मेरे हृदय में भर रहा है, आनन्द-गान की अद्भुत तरंगें मेरे मस्तिष्क में लहरा रही हैं और तेरी ध्रुव विजय में पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं चरम शान्ति और अजेय शक्ति प्राप्त कर रही हूँ । तू मेरी सत्ता के अन्दर ओतप्रोत हो कर बिराजमान है, तू इसे संव्रीकित कर रहा है, इसके प्रसुप्त शक्ति-स्रोतों को गतिशील बना रहा है, इसकी बुद्धि को आलोकित कर रहा है, इसके जीवन में तीव्रता प्रदान कर रहा है, इसके प्रेम को दसगुना बढ़ा रहा है, और अब मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि मैं यह विश्व हूँ या यह विश्व "मैं" है, तू मेरे अन्दर है या मैं तेरे अन्दर हूँ । एकमात्र तू ही विद्यमान है और सब कुछ 'तू' है; और तेरी अनन्त कृपा की लहरें जगत् में भर रही हैं, जगत् को डूबा रही हैं ।

गाओ, गाओ, सब देश, सब समाज, सब मनुष्य, गाओ, भाग्यक्त सामंजस्य विद्यमान है, गाओ ।

११ मार्च १९१२

५५

शान्ति, सगस्त पृथ्वी पर शान्ति....।

हे भगवान् ! ऐसी कृपा कर कि सब लोग साधारण चेतना से बाहर निकल कर, सांसारिक स्थूल वस्तुओं की आसक्ति

अदिति माता

से मुक्त होकर तेरी दिव्य उपस्थिति के ज्ञान में जाग्रत् हों, तेरी परम चेतना के साथ अपनी चेतना को युक्त करें और इससे प्राप्त होने वाली शान्ति के प्राचुर्य का आस्वादन करें ।

हे प्रभु ! तू ही हमारी सत्ता का परम पति है, तेरा ही विधान हमारा विधान है ; हम अपनी सारी सत्ता और शक्ति के साथ यह अभीप्सा करते हैं कि हमारी चेतना तेरी शाश्वत चेतना के साथ तादात्म्य प्राप्त करे जिससे कि प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक मुहूर्त में हम तेरा ही महान् कार्य सम्पन्न कर सकें ।

हे नाथ ! हमें आकस्मिक घटनाओं की चिन्ता से मुक्त कर, साधारण स्थूल दृष्टि से मुक्त कर, प्रेमी कृपा कर कि अब हम केवल तेरा ही आंखों से देखें और केवल तेरी ही इच्छा से कार्य करें ; तू हमें अपने दिव्य प्रेम की सजीव ज्योतिर्दिशाओं में परिणत कर ।

आदर के साथ, भक्ति के साथ, अपनी समस्त सत्ता के सानन्द आत्मोत्सर्ग के रूप में, हे प्रभु, मैं अपने-आप को न्योछावर कर रही हूँ जिसमें तेरा विधान सिद्ध हो ।

शान्ति, समस्त पृथ्वी पर शान्ति....।

१४ फरवरी १९१४



हे प्रभु ! हे अद्वितीय सद्बस्तु ! हे ज्योति की ज्योति और जीवन का जीवन ! हे संसाररक्षक परम प्रेम ! ऐसी कृपा कर कि हम तेरी अबिच्छिन्न उपस्थिति का सचेतनता में अधिकाधिक पूर्णता के साथ जाग्रन् हो सकें, जिसमें हमारे सारे कार्य तेरे विधान के अनुकूल हो जायं तथा हमारी इच्छा और तेरी इच्छा के बीच कोई भेद न रह जाय । हे प्रभु ! हम इस भ्रमात्मिका चेतना से बाहर निकलना चाहते हैं, इस छाया-दृश्य वाले जगत् से मुक्त होना चाहते हैं जिसमें हमारी चेतना उस निर्विशेष चेतना के साथ, जो कि तू है, एकात्मता प्राप्त कर ले ।

हे प्रभु ! लक्ष्य प्राप्त करने के हमारे संकल्प को स्थायित्व प्रदान कर, दृढ़ता और शक्ति प्रदान कर तथा वह साहस प्रदान कर जो समस्त निर्जीवता और शिथिलता को एकदम दूर कर दे ।

हे प्रभु ! मैं तुझसे प्रार्थना कर रहा हूँ, ऐसी कृपा कर कि मेरी सत्ता के सभी अङ्ग तेरे साथ एकत्व प्राप्त कर लें और अब मैं तेरी परम क्रियाशीलता के प्रति पूर्ण जाग्रन् प्रेम की एक ज्योतिषिस्ता भर रह जाऊँ ।

१५ फरवरी १९१४



‘अदिति’ नाम

कई मित्रों ने पूछा है कि ‘अदिति’ का क्या मतलब है, यह नाम क्यों रखा है ? अग्यों को भी ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह वस्तुतः साधारण हिन्दी भाषा में अप्रसिद्ध शब्द है। असल में यह एक वैदिक शब्द है। हम यह सूचित कर चुके हैं कि पत्रिका का यह वैदिक नाम स्वयं श्रीअरविन्दका पसन्द किया हुआ है। लौकिक संस्कृत में ‘अदिति’ का अर्थ ‘देवमाना’ होता है। वस, ‘अदिति’ का अर्थ ‘देवजननी’ है इतना समझ लेना ही इस नाम के सौंदर्य का आनन्द लेने को काफी है। अदिति ‘दिति’ से चलता है। ‘दिति’ राक्षसों की, असुरों की माता है। इसीलिए ‘देत्य’ (दिति के पुत्र) राक्षसों का नाम है। ‘अदिति’ के पुत्र आदित्य होते हैं, सूर्य आदि देवता होते हैं। सो ‘अदिति’ देवों को उत्पन्न करने वाली देवजननी माता का नाम है।

श्रीअरविन्द के सम्पृष्टिगत और व्यष्टिगत योग का श्लेष देवजाति उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना है, यह हमारे पाठकों से शक्य क्षिपा न होगा। तो हम यह भी दृष्टि

में ला सकते हैं कि यह भगवान् की शक्ति, भगवती आद्या शक्ति, देवजननी अदिति माता की ही कृपा और शक्ति है जिस से कि श्रीअरविन्द द्वारा देखा गया दिव्य जगत् की उत्पत्ति का महान् कार्य पूरा होना है। तो श्रीअरविन्द के सन्देश को सुनाने वाली पत्रिका का 'अदिति' से अधिक सुन्दर, सार्थक और समंजस नाम और क्या हो सकता था।

इस प्रकरण में बस केवल एक और बात की तरफ पाठकों का ध्यान खींच कर इस विषय को अभी हम समाप्त करते हैं। क्योंकि इस पत्रिका के आदर्श-मन्त्र-भूत

- 'अनागसो अदितये स्याम'

इस वेदवचन पर हम अगली बार पाठकों की सेवा में अपना एक लेख प्रस्तुत करने वाले हैं जिसके लिए कि इस पत्रिका में गुंजायश नहीं रही है। तब अदिति शब्दकी कुछ और सुदमता में जाकर भी व्याख्या हो जायगी। पर इतना संक्षेप रूपसे अभी कह सकते हैं कि 'दिति' शब्द संस्कृत में जिस धातु से बना है उसका अर्थ है 'टुकड़े करना, खण्ड खण्ड करना, काटना'। सो यह हमारा वर्तमान अदिव्य, अदियायुक्त संसार, अधिक से अधिक खण्डित मानसिक प्रकाश से ही प्रकाशयुक्त होने वाला यह हमारा संसार, जिसमें हम प्रत्येक वस्तु को टुकड़े-टुकड़े, खण्डित, सीमित, परिमित रूपमें ही देख पाते हैं दितिका संसार है। श्रीअरविन्द इसे अदिति के लिए जीवना चाहते हैं, इसे अदिनि का लोको बनाना चाहते-

हैं, वह दिव्य, विद्यायुक्त लोक जिसमें अखण्ड, असीम दृष्टिगोचर और व्यवहारगोचर होता है, अतः जहां विशुद्ध असीम प्रकाश का राज्य है, जो कि मन को अतिक्रान्त कर ऊपर के अविमानस 'विज्ञान' नामक तत्त्व की विशेषता है, और जिसको पाने की साधना ही श्रीअरविन्दकी सब साधना है। यह अखण्डता, असीमता, अपरिमिततारूपिणी विज्ञानमयी अदिति माता ही है जो कि दिव्यत्व को जन्म दे सकती है। अखण्ड, असीम-स्वभावा इस अदिति माता का राज्य हो जाने पर ही इस पृथ्वी का दुःख, दारिद्र्य, शोक-मोह, क्लेश, भय, मरण-त्रास से बारतयिक त्राण हो सकता है। और कोई जगत् के दुःख-पापको दूर कर सकनेका आत्मवैदिक सच्चा उपाय नहीं है। इसलिए हम 'अदिति' माता की उपासना करते हैं।

मुख्यपृष्ठ पर जो 'अदिति' माताका चित्र दिया हुआ है उसमें यही चित्रित है कि अदिति माता अपनी पुनीत उपस्थिति द्वारा जगत् के मनुष्यों को अभयवर प्रदान कर रही हैं। यह चित्र श्रीअरविन्द-आश्रम के एक कलाकार साधक का बनाया हुआ है।

अनागसो अदितये स्याम

यह वेद-वचन वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र का अन्तिम चरण है। यह वेदमंत्र चारों वेदों में, ऋक् में, यजुः में, साम में और अथर्व में आया है। अथर्ववेद में तो दो बार आया है। इन चारों मूल वेदों के अतिरिक्त यह मंत्र तैत्तिरीय संहिता में दो बार आया है तथा निरुक्त में भी व्याख्यात है। इसमें यह स्पष्ट है कि यह मंत्र वैदिक वाङ्मय में कितना महत्त्वपूर्ण है। इस लेख में हम इस मन्त्र के उपर्युक्त अन्तिम चरण के, जो दनारी इस पत्रिका का ध्येय मन्त्र हो गया है, विचार तक ही अपने आपका सीमित रखेंगे। पहिले तीन चरणों पर या संपूर्ण मंत्र पर हम अगली बार ही विचार कर सकेंगे।

इस वेद-वचन का शाब्दार्थ है—(अदितये) अदिनि के लिये हम (अनागसः) निष्पाप (स्याम) होंगे। अदिति के लिये, अदीना दिव्यमृता के लिये, देवजननी शक्ति के लिये हम निष्पाप, निरपराध, निर्मल, शुद्धिरहित, अपूर्णतारहित, छिद्रहीन बनें, होंगे, रहें। अदिति के सामने हम निष्कलंक रहें। अदिति को—अदीनता, वास्तव-हीनता, अत्यण्डता को—राने के लिये हम सब प्रकार की कमियों से रहित बनें। उस अदिनि अवस्था को प्राप्त करने

के लिये या उस अदिति माता का बन जाने के लिये हमें निष्पाप, शुद्ध, विमल, दोषरहित, जरा सी भी विकलता से रहित होना चाहिये। ये सब भाव हैं जो कि इस वेदवचन का अर्थ समझ जाने पर इस वचन द्वारा पाठकों के अन्दर उठने चाहियें और उठते होंगे। पर जरा हम इस वेद-वचन के एक एक शब्द पर जुदा जुदा भी कुछ धोड़ा और अधिक विचार करें।

अदितये

‘अदिति’ इस प्राचीन वैदिक शब्द की व्याख्या हम कई प्रकार से कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरण की धातुओं की दृष्टि से देखें तो ‘दा’ अवखण्डने’ या ‘दीङ् उपसृजे’ से दिति बना है। अण्ड खण्ड वाली या उपसृजयुक्त जो है वह दिति है, उससे अत्य उत्पन्न हुवे हैं। स्थितितादरथा से रहित एवं उपसृज्य तथा अनारा से रहित है अदिति। इसलिये निरक्तकार यास्क मुनि ने ‘अदिति र्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति माता.....’ इत्यादि अदिति की महिमा प्रकट करने वाले वेदमंत्र को प्रस्तुत करते हुवे अदिति का अर्थ ‘अदीना देवमाता’ ऐसा किया है अर्थात् वह देवमाता जिस में उपसृज्य या अवखण्डन की दीनता नहीं है। वह अमर, अवखण्ड, असीम की देवता है। सब पाप, बुराई, बराबरी, नीचे दर्जे के भाव, अमुर वृत्तियां और अमुरत्व दिति से उत्पन्न होते हैं; सीमितता, स्थितितादरथा, अनिश्चरता, दीनता की उपज हैं। और सब पुण्य, अच्छाई, उत्तमता, ऊँची कोटि के भाव अर्थात्

सब देवी वृत्तियां और देवत्व अदिति से जन्मते हैं; असीमता, अमरत्व, सनातनत्व और अदीनता के गर्भ से उत्पन्न होते हैं। अथवा अदिति की व्युत्पत्ति दिति के निषेध में न करके स्वतन्त्र 'अद्' धातु से मानी जा सकती है। व्याकरण की दृष्टि से व्युत्पत्ति किसी तरह की जाय, 'अदिति' शब्द की व्याख्या में भेद नहीं पड़ता। अपने सर्वाच्च रूपमें अदिति अनन्त, असीम, आद्या सत्ता है जिस रूपा में वह सब देवों की जननी है। पर साथ ही वह असीम अनन्त चेतना भी है जिस रूपा में वह सब ज्ञानप्रकाशों को दुहने वाली "गौ" कहाती है। वैदिक निघण्टु में गोवाचक नामों में भी अदिति पड़ा है, तथा वेद में 'गौ' रूप में अनेक जगह अदिति का सुन्दर वर्णन है। कई जगह चित्रा गौ, नाना प्रकार का प्रवास देने वाली गौ बही गयी है। सो सब कुछ देने वाली 'गौ' रूप से भी हम अदिति की उपासना कर सकते हैं। फिर अदिति 'वाक्' है। 'वाक्' नामों में तथा 'पृथ्वी' के नामों में भी वैदिक निघण्टु में अदिति शब्द पड़ा गया है। वाक् अर्थात् अभिव्यक्त करने वाली शक्ति अदिति है। ऋग्वेद के दशम मंडल में जो प्रख्यात आम्भृणी वाक् का सूक्त है जिसमें वह कहती है कि 'मैं ही रुद्र वसु आदित्यों के साथ चलती हूँ, मैं ही सब देवों को धारण करती हूँ इत्यादि.....' वह सब जगत्संचालिका और जगत्प्रकाशिका अदिति माता ही कह रही है। और फिर अदिति के पृथ्वी होने का मतलब यह कि सब स्थूल अभिव्यक्ति तक की शक्ति भी वही दिव्य शक्ति है। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट १-८६-१०

अब मैं ठीक ही कहा है कि 'शौ अदिति है, अन्तरिक्ष अदिति है, माता अदिति है, पिता पुत्र भी वही है, सब देव अदिति हैं, पंचजन अदिति है, जो कुछ हुआ है और जो कुछ होगा वह सब अदिति है ।' सो इस महामहिमामयी अदिति जगदम्बा के प्रति हम क्या करें, कैसे बतें ?

अनागसः

हम 'अनागस्' होवें । 'आगस्' शब्द का सामान्य संस्कृत में अर्थ है 'अपराध', 'दोष', या 'त्रुटि' । तो 'अन-आगस्' का अर्थ हुआ अपराध न करने वाला, निर्दोष, त्रुटिरहित । यदि हम अनागस् होगे तभी दिव्यमूर्ता हमारे अन्दर अपना काम कर सकेगी । उनका कार्य हमारे अन्दर ठीक तरह से होने में रुकावट से हमारे विविध प्रकारके आगस् ही होते हैं । इन्हें हमें अवश्य दूर करना होगा । वेदमें 'आगस्' आदि पापवाचक शब्द उस अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं किये जाते जिसमें हम नैतिक 'गप' को समझते हैं । वैदिक ज्ञान के अनुसार मिथ्यात्व या मिथ्यागति के सिवाय पाप या 'आगस्' और कुछ चीज नहीं है । इसीलिये वैदिक परिपाटी में प्रत्येक पापवाचक शब्द (जैसे अघ, रणस्, अहस्, कण्व आदि) स्वयमेव रोगवाचक भी माना जाता है । क्योंकि रोग भी शरीर में हुआ मिथ्यात्व या मिथ्यागति ही तो है । एवं हमारे मन में या प्राण में या शरीर में जो कुछ भी मिथ्यागति होती है वह उस उस जगह का हमारा 'आगस्' है । हम जानते

हैं कि अमृता, भ्रम, संशय, अज्ञान, निराशा ये सब मनकी मिथ्या गतियां हैं; मन के 'आगस्' हैं। इनके होते हुए माता हमारे मन में अपना दिव्य कार्य कदापि नहीं कर सकती। इसी तरह राग द्वेष, काम क्रोध लोभ आदि प्राण की जबरदस्त मिथ्या गतियां हैं। जब तक हमारे प्राण इनसे शुद्ध नहीं हों, अनागस् नहीं हो जाय तब तक माता कैसे हमारे प्राणी द्वारा अपना दिव्य कार्य कर सकती है। फिर इसी तरह शरीर को अनागस् बनाने के लिये हमें रोग, व्याधि, आलस्य, कुचेष्टा आदि को शरीर से बिलकुल निकास देना होगा तभी हमारा शरीर माता के योग्य बनेगा। दूसरे शब्दों में सब बेगुरापन ही आगस् है। माता के दिव्य लक्ष्मी स्वर से जब हम जरा भी अपने मन में, प्राण से या शरीर से विपरीत स्वर निकालते हैं या अपने अदिव्य स्वरको ही चलते देना चाहते हैं, यही 'आगस्' हो जाता है। हम अशुद्ध, विकृत, बेसुरे हो जाते हैं। यदि हम सचमुच अदिति के उपासक हों, सचमुच माता के होना चाहते हों तब तो हमें यह अनुभव होना चाहिये कि सभी जगह और सभी कालों में माता हमारे सामने हैं और हम जहाँ जरा भी मनकी क्रियामें या प्राणोंके व्यापार में या शरीर की चेष्टामें कुछ भी विकृत स्वर निकालने लगें, मिथ्या-गति करने लगें तो माताकी स्मृति हमें सावधान कर दे, बचा ले। जो हो, यदि हम माताके सच्चे पुत्र बनना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि हम अपने सब अंगोंमें सर्वथा शुद्ध, निर्दोष, निर्मल, अटिहीन, विकलतारहित होवें, हो जाय।

अनागसो अदितये स्याम

स्याम

हो जाँय । हम ऐसे हो जाँय । ऐसे हो जाना, यही हमारा काम है । यदि हम अनागम् हो जाँय—बल्कि ऐसे होने का सच्चे भाव से यत्न ही करें—तो आकी सब तो माता कर देगी । तो बस सचमुच ऐसे हो जाना, हो जानेका सचमुच यत्न करना यही मनुष्यका भाग है, माताके पुत्रका काम है, उसका उद्योग है, पुरुषार्थ है । यह पुरुषार्थ हम करें । इसके लिए हम, इस सत्य को जानने वाले हम, आजसे ज्ञानपूर्वक यह संकल्प करें,— हम अदितिके लिए अवश्य 'अनागम्' होंगे, सर्वथा शुद्ध और निर्दोष बनेंगे, और आज से अटल रूपसे इसी विश्वास में रहें भी । क्या देखते नहीं कि, गहराई के अन्दर, इस पृथ्वीके सभी मानव प्राणी, चाहे वे इसे जानते हों या न जानते हों, अपनी गुहानिहित अन्तरात्माओं में अटल विश्वास के साथ, ऊर्ध्वमुखी पवित्र यज्ञाग्नि की तरह यही एक पवित्र अभीष्टमा उठा रहे हैं, अदिति के लिये अनागम् हो जाने की निरन्तर प्रार्थना कर रहे हैं, माना वैदिक पावन वाणी में वे स्तुत जाय ही कर रहे हैं—अनागसो अदितये स्याम । तो हम ज्ञानपूर्वक ऐसा क्यों न करें ?

तीनों ओर

प्रत्येक भौतिक वस्तु की तीन तरफ होती हैं अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार या प्रमाण (माप) होता है—लम्बाई में (की तरफ), चौड़ाई में (की तरफ), मोटाई में (की तरफ)। संसार में ऐसी कोई भी भौतिक वस्तु नहीं हो सकती जो इस प्रकार तीन तरफ से बनी हुई न हो। कायरनिक तौर पर यह कहा जा सकता है, और केवल काल्पनिक तौर पर यह ठीक भी है, कि बिन्दु वह वस्तु है जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, कि रेखा वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई होती है चौड़ाई मोटाई बिल्कुल नहीं होती, और धरातल या पृष्ठ (सतह) वह वस्तु है जिसमें केवल लम्बाई चौड़ाई होती है मोटाई बिल्कुल नहीं होती। पर भौतिक तौर पर कोई धरातल बिना मोटाई नहीं बन सकता, बारीक से बारीक खींची गई रेखा की भी कुछ चौड़ाई और कुछ न कुछ मोटाई होती ही है, बिन्दु भी जब भी वह भौतिक रूप में वस्तुतः बनाया जायगा तो उसकी कुछ न कुछ लम्बाई चौड़ाई मोटाई होगी ही। तात्पर्य यह कि ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसकी कि तीन तरफ न हों, जो तीन ओर से बढ़ी हुई न हो। हम लम्बाई के स्थान पर कभी ऊँचाई शब्द बोल सकते हैं, ऐसे चौड़ाई की जगह विस्तार या

कैलाश आदि शब्द बोलने ज्ञात सकते हैं, मोटाई को कभी कभी गहराई जैसे किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाना अधिक ठीक हो सकता है। परन्तु यह बात सर्वत्र कायम रहती है कि प्रत्येक वस्तु का तीन ओर से प्रमाण (माप) किया जा सकता है चाहे वह तीनों तरफों या बिस्तारों को हम किन्हीं भिन्न अवस्थाओं में कुछ भिन्न नाम से पुकारते हों।

यह जो कहा जाता है कि दिशाएँ छः होती हैं और अतएव प्रत्येक वस्तुकी छः दिशाएँ हो सकती हैं, वह भी इसीलिए है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का त्रिविध विस्तार होता है और फिर ध्रुवीकरण होने से प्रत्येक विस्तार के दो ध्रुव, दो सिरे (छोर) होते हैं, जैसे ऊपर और नीचे, बायें और दायें (उत्तर और दक्षिण), आगे (पूर्व) और पीछे (पश्चिम)। पर प्रत्येक वस्तु के विस्तार (dimensions) तीन ही होते हैं, एक ऊपर नीचे की तरफ का, दूसरा आगे पीछे की तरफ का, तीसरा दायें बायें का (या दायें बायें का)।

आत्मा की त्रिविध गति

जब दूसरे रूपमें कहें तो संसारकी प्रत्येक वस्तुकी गति तीन तरफ की ही हो सकती है, या तो वह ऊपर नीचे गति करेगी, चाहे वह ऊपर जावे या नीचे, या वह दायें बायें गति करेगी चाहे दायें जाय या बायें, या आगे पीछे की गति करेगी चाहे आगे जाय या पीछे।

चीनों और

यह जो प्रत्येक वस्तु विविध विस्तार वाली होती है और प्रत्येक वस्तु की जो विविध ही गति हो सकती है इसका कुछ कारण है। उस कारण का निर्देश तो यथास्थान ही जायगा। पर इस वर्णन से आशा है पाठकों का मन आत्मा की गति को समझने के लिये भी तैयार हो गया होगा। आत्मा तो भौतिक वस्तु है, उसको भौतिक तरीकों से समझ लेना सम्भव नहीं। तो भी हम भौतिक अवस्थाओं में रहने वाले लोग अपने भौतिक मन से उसकी तरफ अपनी पहुँच में भौतिक उदाहरणों से ही बहुत सहस्यता प्राप्त कर सकते हैं। जब हम किसी को महात्मा कहते हैं तो उसकी आत्मा के महान होने का अर्थ बेशक यह नहीं होता कि वह भौतिक तौर पर लम्बी चौड़ी और मोटी है, तो भी यह जरूर होता है कि उसकी आत्मा महान अर्थात् विशाल, विस्तीर्ण, व्यापक है। 'महात्मा' शब्द से कहाने लायक वही महानुभाव है जिसकी आत्मा में इस प्रकार की कुछ महत्ता है। एक मेरे मित्र ने 'सन्त कौन है' इस विषय पर मुझे कुछ लिख भेजने को कहा था, जब कि वे 'सन्त सुधा' नामक एक पत्रिका प्रारम्भ करने लगे थे। मैंने उन्हें तीन वाक्य लिख भेजे थे। उन्हें वहाँ उद्धृत कर देना समायोजन होगा। 'सन्त' के स्थान पर 'महात्मा' शब्दका प्रयोग करते हुए वे तीन वाक्य निम्न हैं:—

“महात्मा वह है जो ऊँचाई में सत्यलोक की ओर बढ़ता है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रकाशमान अवस्थाओं में से गुजरता

अद्विती माता

हुआ 'अनंभरा प्रकाशो' को प्राप्त करता हुआ श्रुतस्वरूप को पहुँचता है।

“महात्मा वह है जो गहराई में अन्दर अन्दर पैठता हुआ और सोजता हुआ अपने अन्तरात्मा को पा लेता है, और उसका मन, प्राण और शरीर, उसकी सब बाह्य और आन्तर क्रियायें, इसी अन्तरात्मा द्वारा संचालित होने लगती हैं।

“महात्मा यह है, जो विस्तार में अपने को फैलाता हुआ एक-एक प्राणी और एक-एक जीव में, भूतमात्र में अपने आपको पहिचानने और अनुभव करने लगता है और सब संसार के साथ अपनी एकता कर लेता है।”

मतलब यह है कि आत्मा भी तीन ओर गति या उन्नति करता है, ऊँचाई में, गहराई में, विस्तार में। इन तीनों ओर ही उन्नति करनेसे, बढ़नेसे आत्मा महान होता है। यदि कोई आत्मा इनमें केवल एक तरफ—जैसे केवल ऊँचाई या गहराई में—बढ़ता है तो वह उन्नति ठीक प्रकार की नहीं होती। तब समझना चाहिये कि वहाँ कुछ गड़बड़ है। स्वस्थ सभी उन्नति तीनों तरफ ही होगी, ऐसे ही जैसे कि एक शिशु जब भौतिक रूप में बढ़ता है तो वह लंबाई चौड़ाई मोटाई तीनों प्रकार से ही बढ़ता है।

हम जानें या न जानें पर असल में हम सभी ऊपर ऊपर पहुँचना चाहते हैं, गहराई में अन्दर से अन्दर प्रविष्ट होना

तीनों ओर

चाहते हैं, और विस्तार में परे से परे पहुँचना चाहते हैं। आत्मा क्या चाहता है, उसकी अभीप्सा क्या है यह यदि हम देख सकें तो हमें पता लगेगा कि हमारा आत्मा उड़ना चाहता है, ऊपर ऊपर अनन्त ऊँचाई तक पहुँचना चाहता है, उसके लिये वह कशमकश कर रहा है। आत्मा अन्दर की तरफ, भीतर भीतर घुमकर आन्तरिकता को पहुँचना चाहता है, वहाँ उसका कोई है जिसे बिना पाये उसे कल नहीं पड़ सकती, इसलिये वह भीतर से भीतर घुमना चाहता है। एवं विस्तार में फैलाव चाहता हुआ वह दूर से दूर अनन्त दूरी तक पहुँच जाना चाहता है, वहाँ बिना पहुँचे उसे विश्राम नहीं मिल सकता।

जब हम बच्चे थे तो यह पूछने पर कि परमात्मा कहाँ रहता है हमें लोग आकाश की ओर आँगुली करके बताने थे परमात्मा ऊपर है, हम पूछते थे कि क्या बादलों में है, हमें बताया जाता था कि वह बादलों से भी ऊपर है। पीछे ज्ञान की पुस्तकों में यह लिखा देखा और सुना भी, कि परमेश्वर भीतर है, हृदय के भीतर है। गीता में कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति'। उपनिषदों में तो जगह जगह हृदय-गुहा का वर्णन आता है कि उस गंभीर गुहा में परमेश्वर निपा हुआ है, 'गुहाहित' 'गह्वरेष्ठम्', उसे अन्दर दूँढो, गुहा के अन्दर प्रविष्ट होओ। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ जब परमेश्वर के लिये व्याकुल

अद्विती माता

ये तो किसी ने कह दिया कि 'उसे वहां दंडते फिरते हो वह तो तुम्हारे हृदय में है, तुम्हारे अन्दर ही है' तो रामतीर्थ छुरी उठा कर अपने हृदय को चीरने तैयार हो गये थे। अन्तु, इसी तरह यह भी ज्ञानियों से सदा सुनने को मिलता है कि परमात्मा सब जगह फैला हुआ है, भूत भूत में रमा हुआ है। असल में ये तीनों बातें ही सही हैं। सचमुच ही परमात्मा ऊपर है, अन्दर है, और सर्वत्र फैला है। और इसीलिये हमारा आत्मा उस अपने परम आत्मा को पाने के लिये इन तीनों तरफ गति करता है, इन तीनों तरफ बढ़ना चाहता है। हम सभी चाहे इस बात को अनुभव करें या न करें, पर यह सच है। सचमुच हमारा आत्मा तीनों तरफ बढ़ना चाहता है, फैलना चाहता है, बल्कि इन तीनों तरफ बढ़ने को तड़काया सा रहता है।

यदि यह सच है तो फिर हम ऊपर, बहुत बहुत ऊपर स्थित उस अपने परम आत्मा को एकदम पहुँच क्यों नहीं जाते ? अन्दर सुगभीर गहराई में स्थित परम प्रभु को एकदम तृड कर उससे एक क्यों नहीं हो जाते ? सब भूतों में बिम्बित अपने परम देव को हम सर्वत्र फैल कर आज ही प्राप्त क्यों नहीं कर लेते ?

वैदिक प्रार्थना

इसका कारण यह है कि तीनों तरफ ही रुकावटें हैं, तीनों तरफ हम बंधे हुए हैं, किन्हीं बन्धनों या पाशों से जकड़े हुए

तीनों ओर

हैं। ऐसे बंधे हैं कि न हम खुलकर ऊपर वयेच्छ उठ सकते
या उड़ सकते हैं, न गहराई में तल तक बैठ सकते हैं, न अनन्त
रूप से फैल सकते हैं। इसीलिये हमारी मानव आत्मायें — हम
सब मानव जीव — वैदिक ऋचा में प्रार्थना कर रहे हैं :—

उदुलमं वरुण पाशमस्मद्
अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथ वयमादित्य व्रते तव
अनागतो अदितये स्याम ॥

ऋ० १-२४-१५ । यजु० १०-१२ । साम पू० ६-३-१०-४ ॥

अथ० ७-८३-३, अथ० १८-१-६६ ।

तैत्ति० सं० १, ५, ११, ३; ४, २, १, ३ ।

पदपाठ

उत् । उलमं । वरुण । पाशम् । अस्मद् ।
अव । अधमं । वि । मध्यमम् । श्रथाय ।
अथ । वयम् । आदित्य । व्रते । तव ।
अनागतः । अदितये । स्याम ।

शब्दार्थ

(बहण) हे बहण ! (असम्भू) हम से, हमारे (उत्तमं पाराम्)
ऊपर के पारा को, बन्धन को (उत् [भथाय]) ऊपरको खोल दे।
(अधमं [पाराम्]) नीचेके [बन्धनको] (अध भथाय) नीचेकी
तरफ खोल दे, ढीला कर दे। (मध्यमं [पाराम्]) बीचके [बन्धन
को] (त्रि भथाय) विशेषतया खोल दे। (अथ) तथा (वयं) हम,
(आदित्य) हे आदित्य ! (ते व्रते) तेरे व्रतमें रहते हुए (अनागसः)
निष्पाप, निर्दोष (अदितये) अदितिके लिये (स्याम) हो जायें।

यह प्रार्थना क्या है, बहू मानव आत्माओं की नक़्क़न है कि
वे बन्धनों से, तीनों बन्धनों से किसी तरह छुटकारा पाकर
अदिति की विस्मयमत्ता, अनन्तता, अमिता बन्धनशुक्लता में स्थापित
हो बिखर सकें।

शुनःशेष की गाथा

पाठक देखेंगे कि यह बड़ी अति प्रसिद्ध (चारों वेदोंमें पायी
जाने वाली, अथर्ववेद में एक के भी बजाय दो बार गायी गयी)
श्रुति है जिसके कि अग्निम चरण को हम अपना आदर्श वाक्य
करके अपना चुके हैं। पीछेके गाथा-काल में जब कि गाथा द्वारा
सत्त्वों के वर्णन करने की प्रथा भी वेद के हम प्रसिद्ध मंत्र से या
इन सूक्तों से संबद्ध भी एक गथा कही गयी है। कहते हैं कि

तीनों ओर

तीन बन्धन

पर ये ऊपर, मध्य और नीचे के बन्धन क्या हैं ? यह तो ऊपर मांटे तौर पर कह दिया गया है कि ये मन, प्राण और अन्न के बन्धन हैं या इन तीनों की अनृतगति रूप बाप के बन्धन हैं। पर इसे और स्पष्ट किये जाने की जरूरत है।

इस ऊपर सिर में, मध्य में हृदय में और नीचे मूलाधार (नाभि के भी नीचे) में बंधे हुए हैं। ऊपरका उत्तम बन्धन मन का है, बीच का मध्यम बन्धन (मूहम) प्राण का है और नीचे का अधम बन्धन (स्थूल) शरीरका है। आत्मा (मानव आत्मा) को परिमित, सीमित अतएव बढ़ करनेवाले ये मन प्राण शरीर ही हैं। मनुष्य का ज्ञान, उसकी प्रकाश की तरफ, सूक्ष्म की तरफ ऊर्ध्वगति मन द्वारा बंधी हुई है। मन का स्थान सिर में है। अतएव यह उत्तम बन्धन कहाला है। इसे सत्य का बन्धन, सात्विक बन्धन भी कह सकते हैं। सत्य ने वा मन ने मानसिक शरीर द्वारा वा आहंकारिक वायुशरीर द्वारा आत्माको बांध रखा है। मध्यका बन्धन प्राण का है, इसने भावों, भावावेशों, उद्वेगों, आवेगों, रागद्वेषों द्वारा हृदय में हमें बांध रखा है। अशान्तिमय प्राणों के इस बन्धन को राजसिक बन्धन वा सूक्ष्म शरीर का बन्धन भी कहा जा सकता है। अधम बन्धन विसृज्य नीचे जीविक वा 'अन्न' का बन्धन है जिसने अपनी मदद से ज्ञान

और जीवनकी परिमित गतिको भी बांध दिया और हमें अत्यन्त सीमित कर दिया है। यह सामासिक बन्धन वा स्थूल शरीर का बन्धन है।

यहां हम यह भी देख सकते हैं कि वस्तुओंके त्रिविध विस्तार का मन, प्राण, शरीर से क्या सम्बन्ध है। यह हम जानते हैं कि स्थावर योनि (वृक्ष वनस्पति) अन्नप्रधान है, इनमें प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है, तिर्यक् योनि (पशु पक्षी) प्राणप्रधान है, ये अन्न से तो ऊपर हुए हैं पर इनमें भी मन विकसित नहीं हुआ है। मानवयोनि मन्त्रप्रधान है, मनुष्य अन्न प्राण से ऊपर बैठे हैं और इनमें मन भी विकसित हुआ है। इसलिये शरीरप्रधान स्थावरों में मुख्यता मोटाई है, चौड़ाई (विस्तार) और लम्बाई (ऊँचाई) इनमें विकसित नहीं हुई। पर प्राणप्रधान तिर्यक्योनि में मुख्य गुण चौड़ाई (विस्तार) है, लम्बाई (ऊँचाई) इसमें भी विकसित नहीं हुई। तिर्यक्गति का अर्थ संस्कृत में होता है तिरछी, आम्बी, दिगन्तसम (Horizontal) गति। वेद में तथा संस्कृत साहित्य में प्राण की गति वा आकृति तिरछीन मानी गई है इसीलिये पशु पक्षी पक्षी हुई, चौड़ाई के लक्ष अवस्था में रहते हैं। पर मनप्रधान मानव प्राणी खड़ा हो गया है, लम्बाई का ऊँचाई के लक्ष हो गया है। वृक्ष वनस्पति का मेरुदण्ड मुग है वा ककड़ा है। पशु पक्षियों का मेरुदण्ड प्राण के द्वारा तिर्यक्,

तीनों क्षोर

वका हुआ दिग्गन्तसम हो गया है। क्षोर मनुष्य का मेरुदण्ड मन के जाग जाने से खड़ा, लम्बाईकी क्षोर हो गया है। मतलब यह कि अन्न (मृत्युभृत) का गुण मोटाई है, प्राणका चौड़ाई क्षोर मन का उंचाई। इसलिए हमारे इस जगम की सब चीजें लम्बाई चौड़ाई मोटाई इस त्रिविध बितारगली बनी हुई हैं। क्षोर इसीलिए मन ऊपर की गति को बाँधता है (क्षोर यदि खुल जाय तो ऊपर के रास्ते को खोलता है), तथा प्राण क्षोर अन्न मध्यम क्षोर नीचे की गति को बाँधते हैं (क्षोर यदि खुल जाय तो इन दोनों रास्ते के खोलने वाले बन सकते हैं)।

पर बात यह है कि इन बन्धनों में भी कुछ मरता है इसीलिए बहुत से मानव प्राणी भी इन बन्धनों में अपने एक निम्न कोटि के मृत्यु में रह रहे हैं। पर जहाँ आत्मा जमा चुका है, जहाँ उस मृत्युकी व्याप्त लग चुकी है वहाँ ये तीनों बन्धन उत्तरोत्तर अमर्य होते जाते हैं। अन्तमें ऐसी अवस्था आ जाती है जब उनका आत्मा तीनों तरफके इस आवरणको, ढकनेको, बन्धनको खोलने, भेदन करने क्षोर तोड़ देने के लिए व्यग्र हो जाता है।

तीन प्रकार का योग

यह तो कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी अवस्था जानेके क्षोर इसे पार करने के जो साधन हैं उन्हें योगसाधन नाम से पुकारा

अद्विती माता

जाता है। योग का जो एक प्रकार से ज्ञानयोग, भक्तियोग और धर्मयोग वह त्रिविध विभाग किया जाता है वह हमारे इस प्रकरण में बहुत उपयुक्त है। ज्ञानयोग है जिससे कि ऊपर का बन्धन खुलता है। ज्ञान की सखबगुणी वस्तु होने से ऊर्ध्वमुखी गति होती है। ज्ञान की उपासना करने से अन्तर्में आत्मा ऊपरके बन्धनको श्रोत्र ऊपर चढ़नेका रास्ता बना लेता है और ऊपर एक से एक बड़े प्रकारसमय लोकों में पहुँचता हुआ, ज्योतिष्मती अर्द्धभरा अद्वि प्रज्ञाओं को प्राप्त करता हुआ, श्रीहरिचिन्द की परिभाषाओंके अनुसार वह मानस, प्रकाशित मानस, स्फुरणात्मक मानस, अधिमानस से होता हुआ अतिमानस तक पहुँच जाता है। इस अर्था में जो ऐसा कहा गया है कि 'ऊपर के बन्धन को ऊपर की तरफ खोल दे' (उत्तमं पार्श्वं कम् अथाय) इसका अभाव जब पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा। क्योंकि वह ऊपर ऊपर जाना मानसिक चेतनासे ऊपर, मानवीय चेतनाको अतिमानस कर ऊपर अतिचेतनमें पहुँच जाना है। सो बन्धनको ऊपर की तरफ खोलनेका मतलब यह हुआ कि हमके सुखमेंसे ऊपरकी तरफ गति हो सके। एवं भक्तिमार्ग द्वारा हृदयका सम्भवती बन्धन खुलता है। वह प्रेम का मार्ग है। प्रेम की साधना द्वारा हम हृदय की गहराईमें रहने काज अपने प्रेममय अन्तरात्मा को पावें, यही संकेप में भक्ति-साधना है। उसे अन्दर पाने से फिर वह बाहर भी पाया जाय

हीनों और

हम भायें और अदिति के लिये अनागस् हो जाँय'। मन, प्राण, देह नष्ट नहीं होते किन्तु वे बदल जाते हैं, इनका दिव्य रूपान्तर हो जाता है। वे अब दिव्य व्रत के, दिव्य नियम के आधीन हो जाते हैं, अपने अदिव्य नियमों को छोड़ देते हैं। मन के बन्धन के मुक्तने का अर्थ यही है कि मन तब अपने मानसिक (अदिव्य) नियम को छोड़ देता है, उस नियम-बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इसी तरह प्राण और देह भी अपने प्राणगत और वैहिक नियम के बन्धन से मुक्त हो दिव्य नियम में, आदित्य के व्रत में चले जाते हैं। ये सब एक अवस्था, असीम आत्मा के नियम में आ जाते हैं, अन्य सभी नियमों से मुक्त हो जाते हैं।

वैसे ही दिशाएँ अनन्त हैं, जो जिधर चाहता है वधर हो जाता दीखता है। पर सूक्ष्मतया देखने से मुख्य छः दिशाएँ हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जब तक मनुष्य सचमुच में मुमुक्षु नहीं होता तब तक वह बढ़ रहता ज्यों दिशाओं में गति करता है अर्थात् वह ऊपर जाता है तो नीचे भी जाता है, इधर (उत्तर) जाता है तो कभी वधर (दक्षिण) भी जाता है, सामने जाता है तो पीछे भी डटता है। पर मुमुक्षु हो जाने पर जानो उसकी तीन ही दिशाएँ हो जाती हैं। वह ऊपर ही जाता है, उत्तरावस्था का ही अवलंबन करता है, आगे (प्राक्) ही

जाता है, बन्धन तोड़ने के लिये वह इन तीनों ओर ही जाता है। पर बन्धनमुक्त हो जाने पर ये तीनों दिशाएँ भी एक हो जाती हैं, वीं कहना चाहिये कि वह दिशाओं की दुनियां से ही परे आदित्यलोक का हो जाता है, जहां से सब दिशा, अनन्त दिशा, उत्पन्न होती हैं वहां का वह हो जाता है। अतः एक दिशा का न रह, अनन्त का, असीम का, अदिति का हो जाता है।

आगस्, पाप तभी तक हो सकते हैं, होते हैं जब तक कि मन, प्राण और देह बन्धनमुक्त नहीं होते, जब तक कि ये अपने नियमों से चलते हैं अतएव अनृत मतियां भी करते हैं, जब तक ये आदित्य के व्रत में नहीं आ जाते। बीनों पाशों को तोड़ आदित्य के व्रत में आ जाने से हम 'अनागस्' हो जाते हैं, हमारे मन, प्राण, शरीर आत्मप्रेरित दिव्यनिबमानुसार चलते दृष्ट बिलकुल अनागस्, शुद्ध, निष्पाप, मुक्तिरहित, अविकस, पूर्ण कार्य करने वाले हो जाते हैं।

तब हम वस्तुतः 'अदिति के लिये' हो जाते हैं। अदिति जो बन्धनरहित मुक्तिस्वरूपा है, असीम अनन्त देवजननी जगज्जननी है उसके 'अमृत पुत्र' हो जाते हैं, अमृत पुत्र होकर रहते हैं।

शक्ति के आभयस्वरूप एक परम पुरुष को भी स्वीकार करते हैं और हम विश्वास करते हैं कि परम पुरुष की ही अनुमति लेकर, कहीं के अन्दर निहित सत्य-समूह को रूपान्वित करने के लिये भागवती शक्ति कर्म में प्रवृत्त होती है।

श्रीधरकिन्द ने अपनी 'माता' नामक पुस्तक में आरम्भ में ही कहा है कि पूर्णयोग की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता है—नीचेसे भागवत जीवन प्राप्त करनेके लिये साधक की आन्तरिक अभीप्सा ऊपर उठनी चाहिये और ऊपर से भागवती शक्ति की कृपा या प्रसाद का अवतरण होना चाहिये। साधक की अभीप्सा पूर्ण शुद्ध तथा एकमात्र भगवन्मुखी होनी चाहिये। इस अभीप्सा (Aspiration) के स्वरूप को हम एक ओर आकांक्षा या कामना (Ambition or desire) से और दूसरी ओर व्याकुलता से अलग करके समझने की चेष्टा करेंगे। आकांक्षा या कामना हमारी प्राग्भूत सत्ता की अभिव्यक्ति है, हमारा चित्तविक्षोभ है। परन्तु अभीप्सा सूचित करती है हमारे हृत्पुरुष का जागरण। आकांक्षा अहंमुखी होती है चाहे वह कितने ऊँचे प्रकारकी क्यों न हो। हम धन चाहते हैं, मान चाहते हैं, अपना अधिकार, पदप्रतिष्ठा चाहते हैं—यह सब हमारे सुप्त अभिवाञ्छित 'अहं' की वृत्तिके लिये ही होता है। परन्तु अभीप्सा अहंकार का समूल नाश करती है और एकमात्र भगवान् के प्रति

ही हमें आकृष्ट करती है, भगवान् को ही केवल जीवनके प्रकटारण के रूप में निर्दिष्ट करती है, परन्तु भगवान् को जानेके लिये समस्त के मन में बहुत बर एक प्रकार की अस्थिरता या व्याकुलता का भाव उत्पन्न होता है। इस अस्थिरता का मूल कारण होता है भागवती शक्तिके ऊपर पूर्ण निर्भरशीलता का अभाव। अभीष्ट सब प्रकार के अध्येष और अस्थिरता से मुक्त होनी चाहिये। भगवान् के ऊपर पूर्णरूपेण निर्भरशील होकर, अन्तरमें अभीष्टा की निष्कम्भ ज्योति प्रकटित करके साधक को धीर-स्थिर भाव से दिव्य जीवन की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।

भागवत जीवन प्राप्त करने के लिए साधककी घट्ट अभीष्टा अत्यावश्यक, अपरिहार्य है, परन्तु बड़ी पर्वाप्त नहीं है। मांकी कदला या प्रसाद के बिना सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने भगवत्प्रसाद की आवश्यकताओं स्वीकार किया है। सिद्ध महापुरुष अपने सारे अन्तःकरणसे यह अनुभव करते हैं कि अनन्तका सामीप्य प्राप्त करनेके लिए सीमबद्ध जीवकी अकेली चेष्टा या तपस्या कभी पर्वाप्त नहीं हो सकती चाहे वह तपस्या कितनी ही कठोर तथा निरवच्छिन्न क्यों न हो। परन्तु पूर्णयोगकी साधना में भगवत्प्रसाद की आवश्यकता सबसे अधिक है। इस योग में भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त करना ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है; पूर्ण-योगी चाहता है, भगवद्भूति की सम्मदा को बाहर में प्रकट करके,

आत्मनिवेदन के फलस्वरूप यदि कोई पूर्णता प्राप्त भी हो तो वह होगी यंत्र जैसी पूर्णता (mechanical perfection), किन्तु आध्यात्मिक पूर्णता नहीं। उसके बाद माँ के प्रति साधक का आत्मसमर्पण होना चाहिये निरोध और सर्वांगीण। बहुत बार ऐसा देखा जाया है कि साधक के अन्तःपुरुष ने तो माँ के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया है, यहां तक कि उसके मनने भी आत्मोत्सर्ग कर दिया है, किन्तु उसकी प्राणमय सत्ता अपनी भोग-पिपासा को उत्सर्ग करना नहीं चाहती, अथवा उसका स्थूल शरीर अपने चिरपरिचित अभ्यास के अनुसार ही तथा अपने अंध संस्कार के बंध होकर ही चल रहा है। ऐसी अवस्था में आहार का सम्यक् रूपान्तर कदापि नहीं हो सकता। जीवन के सभी अंगों को, सत्ता के सभी स्तरों को, प्राण के सभी स्पन्दनों को, शरीर की समस्त गतिविधियों को निःसंकोच माँ के निकट पुष्पांजलि की तरह उत्सर्ग कर देना होगा, केवल तभी पूर्ण रूपान्तर का स्वप्न सफल हो सकता है।

मातृ-कण्ठा प्राप्त करने की पहली शर्त है आत्मसमर्पण, फिर उसके बाद चाहिये आत्मोन्मीलन और सदसद्विवेक। माँ की शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने के लिये आवाहन करके उसके ऊपर अविद्याजनित कोई शर्त लाद देने से काम नहीं चल सकता; ऐसी मांग पेश करने से काम नहीं चल सकता कि

माँ को हमारी पसंद के अनुसार निर्दिष्ट पथ या निर्दिष्ट विधि से ही कार्य करना होगा। ऐस्य करने से साधना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। माँ अपनी इच्छा से कार्य करेंगी, अबाध स्वच्छन्द गति से करेंगी। तभी हमारा आत्मसमर्पण शुद्ध हो सकेगा और साधना भी सहज और अबाध गति से अग्रसर हो सकेगी। आत्मोन्मीलन का अर्थ है सत्ता के विभिन्न अङ्गोंको माँ की शक्ति और ज्योति की ओर खोल देना जिसमें माँ की कृपा से आधार का सर्वाङ्गीण रूपान्तर सम्भित हो सके। एक ओर या सत्ता के एक अंश में माँ की ओर अपने को खोलकर दूसरी ओर विरोधी शक्तियों के लिए द्वार उन्मुक्त कर देना मिथि को अभ्यन्त दूर भेज देना, व्याघात डाल देना है। जो मंदिर माँ के लिए ऊसर्ग किया गया है उस के अन्दर सत्य और मिथ्या, अंधकार और प्रकाश एक साथ कभी नहीं रह सकते। इसी कारण साधना में सदा सर्वदा सजग रहने की आवश्यकता है, विचार-विवेक रखने की आवश्यकता है, सुदृढ़ संकल्प रखने की आवश्यकता है जिस में केवल सत्य को ही ग्रहण किया जाय और मिथ्या का सब प्रकार से त्याग किया जाय। माँ की कृपा से जो ज्योतिर्मय सत्य ऊपर से नीचे उबरे केवल उसी को वरण करना चाहिये तथा जो कुछ अनृत है,—मनके संस्कार, मतमता, बौद्धिक रचनाएँ आदि, प्राण की भोगवासनाएँ, मर्गि, संकीर्णवाणं,

गर्भ, ईर्ष्या आदि तथा शरीर की मूढ़ता, तापसिकता, संशय, अभिरास, परिवर्तन की अनिच्छा इत्यादि—इन सबको निर्मम होकर समूल नष्ट कर देना चाहिये ।

आत्म-समर्पण और व्यक्तिगत चेष्टा

इमने पहले ही कहा है कि पूर्ण आत्म-समर्पण तथा आत्मोन्मीलन के द्वारा भागवती शक्ति को आधार के अन्दर अव्याहन रूप से कार्य करने देने पर ही दिव्य रूपान्तर साधित हो सकता है । इसी कारण पूर्णयोगी की चेष्टा होगी अपनी व्यक्तिगत तपस्या के बदले धीरे-धीरे भागवती शक्ति को उनकी इच्छा के अनुसार अपने अन्दर कार्य करने की सुविधा देना । तो क्या आत्मसमर्पण-योग में साधक की अपनी चेष्टा की कोई भी आवश्यकता नहीं ? यह प्रश्न यहां पर बहुतों के मन में उठ सकता है । परन्तु इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है, इसका अनुमान करना उतना कठिन नहीं । आत्मसमर्पण-योग के साधक का चरम लक्ष्य है ऐसी एक अवस्था प्राप्त करना जिस में व्यक्तिगत चेष्टा की कोई आवश्यकता न रहे, उसके लिये बिल्कुल अवकाश न रहे, जिसमें साधक दिव्य शक्ति की अनन्तमुखी कर्मधारा का केवल केन्द्र बन जाय । किन्तु इस चरम अवस्था को प्राप्त होना केवल तभी सम्भव होगा जब साधक का समस्त आधार सम्यक् रूप से शुद्ध और पवित्र हो जायगा, जब उसकी

अद्विती माता

समस्त सत्ता दिव्य प्रतिमा के रूप में परिणत हो जायगी। इससे पहले व्यक्तिगत चेष्टा और निरन्तर जागरूकता का अभाव होने पर असावधानी के किसी भी मुहूर्त्त में विरोधी शक्ति आकर साधक को प्रभावान्वित कर सकती है। इस कारण जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय हो तब तक साधक की व्यक्तिगत चेष्टा की आवश्यकता है। इस व्यक्तिगत चेष्टा का प्राण है अभीप्सा, परि-वर्जन और समर्पण। एक ओर पूर्णयोगी जिस तरह भगवान् को ही अपने भीतर वास्तविक साधक के रूप में अनुभव करेगा और वन्हीं की शक्ति को अबाध गति से सक्रिय करने की चेष्टा करेगा, इसी तरह दूसरी ओर वह आधार के पूर्ण शुद्ध हो जाने के ठीक अन्तिम मुहूर्त्त तक निःशेष आत्म-समर्पण करने की चेष्टा करेगा, मिथ्या का मूलोच्छेद कर डालने का प्रयत्न करेगा और अपने अन्न-करण में दिव्य जीवन प्राप्त करने की अभीप्सा को सदा जीवित-जागृत बनाये रखेगा।

जीवन का रक्षा-कवच

विपत्संकुल जीवन-पथ में एकमात्र अव्यर्थ रक्षा-कवच है माँ भगवनी की कृपा। यदि माँ की कृपा प्राप्त हो जाय तो फिर साधक जीवन के सभी आँधी-तूफानों के अन्दर से होकर, सभी दुर्दिनों और संकटों से होकर निर्भय अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। इस कृपा को प्राप्त करने का एकमात्र

उपाय है अपने अन्तःकरण को भ्रष्टा, अनन्यता और आत्मोत्सर्ग के भाव से पूर्ण कर रखना। हमारी भ्रष्टा होनी चाहिये शुद्ध, सरल और निर्दोष। बहुत बार भ्रष्टा अहंकार और कामना द्वारा कलुषित हो जाती है; हमारा मन और प्राण गर्व और आत्मभरिता से फूल उठता है और हम अपनी निम्न प्रकृति की लुप्त भोगलुप्ता को तृप्त करने के लिये मांग पेश करते हैं। वास्तविक भ्रष्टा अन्तःपुरुष की सम्पदा है। उस विशुद्ध भ्रष्टा को प्राप्त करने पर हमारे जीवन का एकमात्र मत होगा दिव्य कर्म और दिव्याभिव्यक्ति; हमारे लिये आकांक्षाकी एकमात्र वस्तु होगी दिव्य चेतना की शक्ति, शान्ति, ज्योति और आनन्द तथा देह-प्राण-मन का दिव्य रूपान्तर; हमारी एकमात्र मांग होगी पृथ्वी के ऊपर अतिमानस सत्यकी शारवत प्रतिष्ठा। इसी प्रकार हमारी अनन्यता और आत्मोत्सर्ग भी निर्मल और अखण्ड होना चाहिये। अपनी सत्ता के किसी अंश को, अपनी साधना की किसी शक्ति को हमें अहं के लिये अथवा अन्य किसी अद्वैती शक्ति के लिये सुरक्षित नहीं रख छोड़ना चाहिये। हमारी भ्रष्टा, अनन्यता और सवर्षण जितने परिमाण में शुद्ध और पूर्ण होंगे उतने ही परिमाण में माँ की कृपा और अभय-वरदान को हम प्राप्त कर सकते हैं। माँ की अभयवाणी प्राप्त कर लेने पर कोई भी बाधा-व्यक्ति, कोई भी विरोधी शक्ति, वह चाहे जितनी भी दुर्धर्म क्यों न हो, साधक को स्वर्श तक नहीं कर सकती, बल्कि माँ की कृपा से बहुत सुखोग

अद्वितीय माता

बन जाता है। व्यर्थता-दुर्बलता सार्थक अमोघ सामर्थ्य के रूप में परिवर्तित हो जाती है। क्योंकि मां की कृपा के अन्दर प्रकाशित होता है विधाता का सर्वश्रेष्ठ अन्वर्थ विधान—परमेश्वर की अनुमति।

ऐश्वर्य और आध्यात्मिकता

धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रभाव-प्रतिष्ठा इत्यादिके विषयमें प्रचलित मत यह है कि ये सब आध्यात्मिक जीवन के एकदम विरोधी हैं—ये केवल माधना के बिघ्न, रास्ते के कांटे हैं। इसी कारण हमारे देश के बहुत से सच्चे योगी और साधक ऐश्वर्य का मार्ग एक किनारे छोड़कर आगे चले गये। उन्होंने बहुमूल्य मणि-मुक्ता को 'लोष्टवन' समझा, सोना और गिट्टी, मिट्टी और सोना इन दोनों को एक और अभिन्न माना। हमने यह सीखा है कि संस्वास-मूलक निवृत्ति-मार्ग ही भगवान् को प्राप्त करने का अत्यन्त प्रशस्त पथ है, दरिद्रता और रिकता ही इस पृथ्वी पर आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ अवस्था है। धन-ऐश्वर्य-विषयक ऐसा मनोभाव मन के एक अत्यन्त सुन्दर निर्जित भाव को सूचित करता है, ऐकान्तिक और विशुद्ध भगवत्प्रेम का परिचय देता है। किन्तु जो लोग केवल भगवान् के प्रेमी-पुजारी न हो उनके कमीं चापक होना चाहें, जो लोग मां के शक्तिप्रवाह के केन्द्र बनना

चाहें, जो लोग दिव्य जीवन के शिल्पी बनना चाहें, उन्हें यह याद रखना चाहिये कि इससे भी कोई बड़ी बात है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संन्यासमूलक निवृत्ति के मूल में एक बहुत बड़ा सत्य वर्तमान है तो भी यह सत्य अर्धसत्य है, विकलांग और अपूर्ण है। भोगैश्वर्य का त्याग कर दारिद्र्य-घ्न को प्रदण करना एक बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्त की समता। हम यहां पहले इसी विषय में दो-एक बातें कहेंगे।

अर्थ और ऐश्वर्य के विषय में श्रीधरबिन्द का मत बड़ा ही अपूर्व और नवीन है। श्रीधरबिन्द का दृष्टि कितनी गम्भीर, व्यापक और समन्वय-मूलक है इसका ज्वलन्त दृष्टान्त हम यहीं पाते हैं। उनका कहना है कि अर्थ या धनबल एक क्षियजनीन शक्ति की ही स्थूल अभिव्यक्ति है। वह शक्ति माँ की ही शक्ति है; प्राण और जड़ के स्तर में वह शक्ति धन-सम्पत्ति के रूप में प्रकट हुई है; इसी कारण हमारे पार्थिव जीवन के परिपूर्ण विकास के लिये उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव धन स्वयं किसी अनर्थका कारण नहीं हो सकता। अनर्थका कारण है अनधिकारी के हाथों अर्थ का दुर्न्यवहार। पृथ्वी की सारी धन-संपदा वास्तव में माँ भगवती की है। मनुष्य तो केवल उस मातृ-सम्पदा का भंडारी और रक्षक है, उसका असली मालिक नहीं। इसलिये कमाये हुए सब धन को माँ की पूजा में और पृथ्वी पर माँ का

अदिति माता

उद्देश्य पूरा करने में लगा देना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को ठीक-ठीक पूरा करने की जिसे योग्यता है, वस, वही धन प्राप्त करनेका सच्चा अधिकारी है। आज अधिकांश धनी मनुष्य धन प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी नहीं हैं, धनपर उनका अपना अधिकार है भी नहीं, बल्कि धन ही उनके ऊपर अपना अधिकार जमाये हुए है। अपने धन के दास होने के कारण वे अपने धन को अपने अन्तःकल्याण में, आत्मोन्नति में नहीं अर्च करते, माँ भगवती का उद्देश्य पूरा करने में नहीं लगाते, बल्कि उन सब दानवीय शक्तियों की तृप्ति के लिये व्यय करते हैं जिन्होंने अपनी चरितार्थता के लिये उन धनवानोंको अधिकृत कर रखा है। हम लोग साधारण सौर पर अपने धन का व्यवहार करते हैं अपने जुड़ 'अहं' की पूजा के लिये—भोग की लालसा और मान-प्रतिष्ठा की आकांक्षा को तृप्त करने के लिये। फलस्वरूप हमारा धन हमारे आत्मा की अभिव्यक्ति का मार्ग रोककर ब्यर्था हो जाता है। परन्तु यह दोष अर्थरहित नहीं है, यह दोष तो हमारी अज्ञानता का, हमारी आसक्ति और मोहबंधनता का है। अगर हम उचित रूप में व्यवहार करना सीख जायें तो वह धन ही हमारे पार्थिव जीवन को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने वाली एक अनिवार्य शक्ति बन जायगा। पूर्ण दिव्य जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये ऐश्वर्य और सौंदर्य की अधिपति देवी की आवश्यकता को क्या हम कभी अस्वीकार कर सकते हैं ?

भय या उपेक्षा का भाव होने से जो योगी धन-सम्पत्ति का त्याग करते हैं वे अपने पक्ष में दो बातें कह सकते हैं। पहली बात यह है कि अर्थ और काम मानो एक दूसरे से गुथे हुए हैं। कौचन का त्पशं बड़े ही विचित्र ढङ्ग से हमारे अन्दर कामना की आग जला देता है, योगी के अन्तःकरण की लुप्तभाव भोगतृप्ता को नाना प्रकार से उद्दीप्त कर देता है। इसलिये माधना के पथ में सोने की येनी को साध्वानी के साथ दूर रखना ही सबसे अधिक निरापद है। दूसरी बात यह है कि जो साधक पूर्ण-भूसरित इस ऐहिक जीवन का कोई निगूढ़ रहस्य स्वीकार नहीं करते, जिनका चरम लक्ष्य है अगम के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध को नष्ट कर भगवान् की विद्वान और आनन्दघन सत्ता के अन्दर निरन्तर दूबे रहना, उनके लिये कौचन या अन्य किसी शक्ति के प्रयोग की चेती कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। वे चाहते हैं विश्वासीत शक्ति, इसलिये विश्वासीत शक्तियां उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं; वे चाहते हैं निश्चल भूमा केतना में शाश्वत स्थिति, इसलिये कर्म-जीवन का सहायक अर्थ उनके लिये केवल प्रलोभन है। परन्तु हम जानते हैं कि पूर्णयोगका उद्देश्य हमारे इस ऐहिक जीवन को, इस नश्वर नर्त्तक भूमि को भी लिये हुए है। पूर्णयोगी चाहता है विश्वासीत के अन्दर निहित आनन्द को विश्व के प्रत्येक स्तर में विचित्र

अदिति माता

छन्दों में अभिव्यक्त करना, अर्थात् उस बीजा के सेने जाने में सहायक होना। पूर्णयोगी का लक्ष्य है सर्वदानन्द की तुरीय शक्ति को मर्त्यके अन्दर उतार कर अपने इसजीवन को दिव्य रूप प्रदान करना। इस उद्देश्य को सिद्ध करनेके लिये कर्म अपरिहार्य है, और कर्मके लिये अर्थ, शक्ति आदि सब की आवश्यकता है। कांचन का त्याग कर जीवन के परे एक भूमानन्द को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उस भूमानन्द को जीवन के प्रत्येक भाग में स्थापित करने के लिए वार्षिक जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने और पूर्णता प्राप्त करनेके लिए कांचनकी भी आवश्यकता है। तब यह बात यहां याद रखनी होगी कि पृथ्वी का सब मणि-कांचन मौ भगवती का है, उन्हीं की इच्छा से उन्हीं का उद्देश्य पूरा करने के लिये पूर्णयोगी अपने अधिकार में आये हुए धन का उपयोग करेगा। इसलिये इस विषय में श्रीहरविन्द की शिक्षा यह है कि पूर्णयोगी को दोनों भिन्नमुखी चरम मार्गों का त्याग करना होगा। एक ओर उसे अपने मन से सब प्रकार से भोगासक्ति और अर्थकोलुपता को समूल नष्ट कर देना होगा और दूसरी ओर अर्थविषयक सब प्रकार के संकोच और मय को निकास बाहर करना होगा। पूर्णयोगीकी प्रधान चेष्टा होगी विश्व की समता को बनाये रखना;—संपद् और विपद् में, वैश्वर्ष्य और दरिद्रता में, जीवनकी भली बुरी सभी अवस्थाओं में मौकी इच्छा

को हृदयंगम करना। अगर दुःख-दैव्य आवे तो उसे हंसते हुए स्वीकार करना चाहिये; दारुण दरिद्रताके भीतर भी योगी का मन अचल, प्रशान्त रहना चाहिये, आत्मानुभूति के आनन्द से भरा हुआ होना चाहिये। परन्तु इसी कारण भला दरिद्रता के प्रति आसक्ति भी क्यों उत्पन्न होगी ? रिक्तता ही आध्यात्मिकता की भेद्य अवस्था क्यों मानी जायेगी ? जब ऐश्वर्य का प्राचुर्य होगा तब उसका सद्व्यवहार भी करने के लिये तैयार रहना चाहिये; विपुल ऐश्वर्य के अन्दर भी योगी का मन निर्लिप्त, अनासक्त, नित्ययोगयुक्त रहना चाहिये। योगीको अपनी किसी साज्जमा को चरितार्थ करने के लिये धन-ऐश्वर्यका उपयोग नहीं करना चाहिए, बल्कि पृथ्वी पर भ्रमवत जीवन स्थापित करने में सहायता पहुंचाने के लिये करना चाहिये। इसीलिये हमने पहले कहा है कि भोगेश्वर्य का स्वागत कर दरिद्रता के प्रत को ग्रहण करना एक बहुत बड़ी बात है, परन्तु उससे भी बड़ी बात है चित्तकी समता — जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से होकर निष्कामभाव से पर साथ ही सक्रिय भावसे एक ही भुव लक्ष्यकी ओर अग्रसर होना।

आमकल पृथ्वी की धन-संपदा ऐसे लोगों के हाथ में पड़ गयी है जो उसका सद्व्यवहार करना बिलकुल ही नहीं जानते। इस कारण मनुष्य का धनबल आज असुर की पूजा में व्यय हो रहा है या तो अर्थके उच्छृङ्खल अपव्यय के द्वारा दानवीर श्रृष्टि

चरितार्थ हो रही है अथवा देशाचार वा लोकाचार के अनुसार धन का व्यवहार होने के कारण हमारा जुद्ध "अहं" परितृप्त हो रहा है। इस विषय में पूर्णयोगी का एक बड़ा कर्त्तव्य यह है कि वह अनधिकारी के हाथ से धन-बल को निकाल कर मांके सामने अर्पण करे जिसमें दिव्य जीवन के सौन्दर्य और सुखमाको बढ़ाने के काम में धन ऐश्वर्य अपना यथायोग्य स्थान प्राप्त कर सके। इस कर्त्तव्य का पालन सब से उत्तम रूपमें वे ही लोग कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण से अहंकार और अंधकामना का विनाश हो गया है और जो कोई दाया पेश न कर अपनी सारी उपार्जन-शक्ति को निःशेषतया मां के हाथों में सौंप देने में समर्थ हैं।

कर्म और योग

पूर्णयोगी की दृष्टि में जिस तरह पृथ्वी का अर्धबल मां की ही एक विश्वजनीन शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है और योगी का कर्त्तव्य है समस्त धन मां के चरणों में वसर्ग कर वन्हीं के निर्देशानुसार व्यवहरना, उसी तरह पृथ्वी की समस्त कर्मशक्ति का चरम स्रोत भी है मां भगवती की इच्छा और योगी का कर्त्तव्य है, जीवन के समस्त कर्मों को मां के चरणों में वसर्ग कर वन्हीं की इच्छा के अनुसार नियंत्रित करना। अवश्य ही इस विषय में प्रचलित मत एकदम उल्टा ही है। हमारे देश के दार्शनिक लोगों का विश्वास है कि पृथ्वी की समस्त कर्मशक्ति

के मूल में, तथा सनप्र सृष्टि-प्रवाह के मूल में जो शक्ति क्रिया कर रही है वह है अविद्याशक्ति, माया या प्रकृति। अतएव अभ्यात्म-साधना का उच्चतम लक्ष्य है पृथ्वी के कर्मप्रवाह से बहुत ऊपर बैठ जाना—सृष्टिपरायणा शक्ति को पूर्ण रूप से अतिक्रम कर जाना। अवश्य ही साधनपथ में कर्म की आवश्यकता को दूर नहीं किया जा सकता तथा कर्म-बन्धन से मुक्ति पाने के लिये जीवन के सभी कर्मों को भगवन्मुखी बनाने की भी आवश्यकता है, फिर भी जब योगी अज्ञान के क्षीणतम बन्धन तक को छिन्न कर विशुद्ध आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है तब कर्म निरर्थक हो जाता है। अब भला कौन कर्म करेगा ? किस लिये करेगा ? स्वयंसंपूर्ण सारस्वरूप आत्माको क्या कोई अभाव है ? उसे किस बात की आवश्यकता हो सकती है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है, क्यों ? अन्यान्य बड़ जीवों के मंगल और मुक्ति के लिये आत्मज्ञान करने के बाद भी तो योगी के लिये कर्म करना संभव है। परन्तु शुद्ध ज्ञानवादी के सामने इस युक्ति की भी सीमा है। सिद्ध योगी के अन्दर लोक-संग्रह के लिये कर्म करने का संकल्प भी तभी तक रह सकता है जब तक वह अपने आप को अशुद्ध के एक अत्यन्त मीने आवरण से ढके हुए है, अर्थात् जब तक वह परिनिर्वाण या पूर्णब्रह्म को नहीं प्राप्त करता और अज्ञान को अपने अन्दर कार्य करने देता है। हमने पहले ही

कहा है कि शुद्ध ज्ञानवादी के मतानुसार समस्त कर्मशक्ति का मूल है अविद्य। निरवच्छिन्न रूप से पूर्ण ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाने पर अविद्या के सारे सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। उस समय सारा जगत्-प्रपञ्च मिथ्या भावा में परिणत हो जाता है और कर्ममात्र ही अर्थहीन प्रतीत होता है, चाहे वह कर्म स्वार्थ के लिये हो या परार्थ के लिए।

परन्तु पूर्णयोग के अन्दर ज्ञान और कर्म के बीच के सभी विरोध एक अपूर्व समन्वय में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि पृथ्वी के समस्त कर्म-प्रवाह का चरम मूल-स्रोत अज्ञान या अविद्या नहीं है, बल्कि चिरजागृत सच्चिदानन्दमयी शक्ति है। ज्ञानमयी शक्ति के इशारे से ही अर्थात् माँ भगवती की इच्छा से ही सृष्टि की अनन्तफोटि क्रियायें-प्रक्रियायें एक अपूर्व शृङ्खला में नियंत्रित हो रही हैं। हमारे जीवन में आपाततः जो अविद्या मालूम होती है वह विद्या की ही एक विशेष अभिव्यक्ति है। हम जिसे निश्चेतन बाह्य प्रकृति कहते हैं वह विन्मयी शक्ति का ही एक स्थूलतम रूप है। ज्ञानमयी शक्ति पूर्ण ज्ञान का अवलम्बन करके ही अनन्त सृष्टि के अन्दर अनन्त सीमा का विस्तार करती है—किसी अभाव को दूर करने के लिए नहीं, किसी मनमानी बात को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उसी विराट् ज्ञानान्धधन सत्ता की विविध अभिव्यक्ति के लिए।

अतएव हमारा यह कर्ममय जीवन उस ज्ञानमयी शक्ति की ही बहुविध लीला-प्रवेष्टा है, और विशुद्ध ज्ञानावरूप की छन्दोमयी अभिव्यक्ति है। पूर्णयोग का लक्ष्य है सर्वाङ्गीय आत्मसमर्पण के द्वारा दिव्य चेतना में जागृत होकर लीलामयी माँ का एक अङ्ग बन जाना जिसमें माँ की इच्छा और साधक की इच्छा में कोई भेद न रहे, जिसमें माँ के कर्म और साधक के कर्म में, माँ की प्रेरणा और साधक के संकल्प में तनिक भी भेद न रहे।

साधना के आरम्भ में ही माँ के साथ पूर्ण सक्रिय एकत्व (complete dynamic identification) स्थापित करना संभव नहीं। इसलिये साधक को एक-एक कर कई स्तरों से हो कर जागे बढ़ना पड़ता है। पहले स्तर में सेवक-भाव से साधना करनी होती है, दूसरे स्तर में यंत्र-भाव की उपलब्धि होती है, और तीसरे या सबसे अन्त के स्तर में साधक यह अनुभव करता है कि वह माँ का एक अंश है या माँ के साथ उसका पूर्ण एकत्व स्थापित हो गया है। इन विविध स्तरों के विषय में यहाँ कुछ और विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता है।

‘कर्मव्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन’—गीता के इस प्रसिद्ध वचन का मर्मार्थ ग्रहण कर कर्म-साधना आरम्भ होती है। साधक पहले-पहल आने को माँ भगवती का दास या सेवक समझता है। माँ के सेवक के रूप में केवल माँ द्वारा निर्दिष्ट कर्म के

अद्विती माता

ऊपर ही उसका अधिकार होता है, कर्मका फलाफल माँ के ऊपर ही छोड़ देना होता है। साधक किसी पुरस्कार की आशा रखे बिना ही, कर्मफल के ऊपर किसी प्रकार की आसक्ति न रख, पूर्ण निष्काम भाव से कर्म करता है। माँ का सेवक केवल यही कष्ट करता है कि उसके कार्य के द्वारा माँ सन्तुष्ट हो, माँ के सभी कार्य सुन्दर रीति से सम्पन्न हो। इस निष्काम कर्म के द्वारा दिन-दिन साधक दिव्य चेतना, दिव्य ज्ञानम्ब और दिव्य शक्ति से अपने कन्तर को समृद्ध बनाता है। साधक के लिये वही तो सबसे बड़ा पुरस्कार है।

निष्काम कर्मसाधना धीरे-धीरे साधक को एक गम्भीरतर उपलब्धि के स्तर में ले जाती है और वह है दूसरे स्तर की यंत्र-भाव की उपलब्धि। पहले स्तर में साधक माँ के सेवक के रूप में कर्म में अपना अधिकार समझता है, उसका दावा करता है, परन्तु दूसरे स्तर में उसे यह अनुभव होता है कि कर्म में भी उसका अपना कोई वास्तविक अधिकार नहीं, क्योंकि सभी कर्मों का मूल स्रोत माँ स्वयं हैं। साधक के द्वारा स्वयं माँ ही सभी कार्यों को सम्पन्न करती हैं, साधक के शरीर, प्राण और मन माँ के हाथ के केवल यन्त्र हैं, स्थूल जगत् में उन की अभिव्यक्ति के आधार हैं। पहले स्तर में साधक का कर्मफल माँ के प्रति कसौती करना होता है, दूसरे स्तर में साधक कर्म का भी माँ के हाथों में

सौंप देता है। पहले स्तर में साधक कर्मफल की स्पृहा या आसक्ति का त्याग करता है, दूसरे स्तर में कर्तृत्वाभिमान तक उसके अन्तर से बिलुप्त हो जाता है। पहले स्तर में साधक का स्वातंत्र्य-बोध प्रबल होता है, वह अलग एक कर्मी होता है, मां का सेवक या पुजारी होता है; दूसरे स्तर में भेद-ज्ञान बहुत कुछ दूर हो जाता है, साधक अब मां की स्त्रीला का उपकरण, उनके हाथ का बंत्र बन जाता है। जिस समय अपने भीतर यह स्वान्तर चल रहा हो उस समय साधक को सदा सतर्क रहने की जरूरत है जिसमें किसी प्रकार अहंकार आकर चेतना को अचञ्चल न कर ले। आधार के अन्दर कार्य करने वाली मां की शक्ति को अगर साधक अपनी कोई व्यक्तिगत इच्छा पूरी करने में लगाना चाहता है तो उसकी उन्नतिका मार्ग ही बन्द हो जाता है। यहाँ तक कि अगर मां का यंत्र होने का भी गर्व या दर्प मन में स्थान पा जाता है तो उससे साधना में बड़ा बिज्ज आ उपस्थित होता है।

तीसरे या अंतिम स्तर में साधक को बड़ी अपूर्व अनुभूति होती है। सिद्धि की इस अंतिम अवस्था में साधक का पूर्ण स्वातंत्र्य-बोध दूर हो जाता है और वह मां भगवती के साथ पूर्ण एकरूप प्राप्त कर लेता है। अब साधक की अपनी कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती; साधक अब मां का सेवक या पुजारी मात्र

नहीं होता, अथवा मां के हाथ का यंत्रमात्र भी नहीं होता, जब यह मां की वास्तविक सन्तान, उनका सनातन अंश बन जाता है। इस अवस्था में साधक सहज और स्वाभाविक रूप में यह अनुभव करता है कि वह सदा मां की गोदी में ही निवास कर रहा है, और मां भी सर्वदा उसके भीतर बिराज रही हैं।—मां की सत्ता से ही उसकी सत्ता है, मां की चेतना से ही उसकी चेतना है, मां की शक्ति की ही वह शक्ति है और मां के आनन्द का ही वह आनन्द है। मां के साथ इस प्रकार सक्रिय एकत्व स्थापित होने पर साधक को दिव्य कर्म की सर्वानुमोदित सिद्धि प्राप्त होती है: उसे केन्द्र बनाकर मां भगवती अबाध रूप से दिव्य जीवन गठित करने का सुयोग पार्षी है।

मां की त्रिविध सत्ता

मां भगवती की सत्ता त्रिविध है, अर्थात् अव्यक्त और अविभाज्य होने पर भी मां एक साथ ही तीन अवस्थाओं में बिराजमान रहती हैं, और इन विभिन्न अवस्थाओं में रह कर विभिन्न रूपों में कार्य करती हैं, और फिर मां के अद्वितीय होने पर भी उनकी असंख्य शक्तियां और मूर्तियां हैं, असंख्य विग्रह और विभूतियां हैं: वह एक होने पर भी अनन्त रूपों के अन्दर अपने-आपको प्रकट करती हैं। मां की इन असंख्य शक्तियों और

विग्रहों में चार प्रधान हैं — महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। हम पहले संक्षेप में माँ की त्रिविध सत्ता का पर्यालोचन करेंगे।

भगवान् के विषय में हम यह जानते हैं कि वह एक संग तीन अवस्थाओं में अवस्थान करते हैं — विधातीत रूप में (Transcendental), विश्वव्यापी रूप से (Universal) और व्यष्टि रूप से (Individual)। माँ भगवती के विषय में भी यही बात है। वह एक साथ ही विश्वातीता आद्या पराशक्ति, विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी महाशक्ति और व्यष्टिरूपिणी स्नेहमयी जननी हैं। आद्या पराशक्ति सृष्टि-प्रवाह से बहुत ही ऊपर अवस्थान करती हैं और अव्यक्त परब्रह्म के साथ वैचिध्यमय इस व्यक्त जगत् को जोड़े रखती हैं। आद्या शक्ति का कार्य है अनिर्वचनीय परम पुरुष के अन्दर निहित अनन्त सत्तों में से कुछ को उनकी रहस्यावृत्त अवस्था से नीचे उतार कर अपना चेतना के अन्दर स्पष्ट रूप प्रदान करना, जिसमें वे विश्वजीला के अन्दर 'मूर्तिमान्' हो सकें। स्वयं पुरुषोत्तम आद्या शक्ति की ही सहायता से अपने को प्रकट करते हैं: माँ की विश्वातीत चेतना के अन्दर वे सच्चिदानन्द रूप में नित्य प्रकट रहते हैं, माँ की ही सहायता से वे 'ईश्वर और शक्ति' की द्वैताद्वैत चेतना के अन्दर और 'पुरुष तथा प्रकृति' के

द्वैततत्त्व के अन्दर उतर आते हैं, और मां के ही द्वारा वे विभिन्न जगत्, और लोकों, विभिन्न देवताओं और देव-शक्तियों के विचित्र रूप और आकार परित्रहण करते हैं। इरयमान जो कुछ भी है वह सब पुरुषोत्तम के साथ आशाशक्ति की लीला है। व्यक्त जगत् के अन्दर ऐसी कोई चीज नहीं रह सकती या घट नहीं सकती जिसे चिद्रूपिणी भागवती शक्ति ने परम पुरुष की अनुमति लेकर अपने सृष्टि के आनन्द के अन्दर सर्वप्रथम बीज रूप में न डाला हो।

विराज्यापिनी महाशक्ति-रूप में माँ अनन्त जगत् और जीवों की सृष्टि करती हैं, अपनी चेतना के अन्दर उन्हें धारण कर फिर उन सबके अन्दर प्रवेश करती हैं तथा विश्व की अनन्तकोटि क्रिया-प्रक्रियाओं को परिचालित करती हैं। व्यष्टि रूप में मां हमारे अत्यन्त निकट हैं; वह हमारे अन्तर में उतर आकर मानो हमारा हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे हमें स्वयानुमूर्ति के मार्ग पर ले चलती हैं, हमें अपनी (मा की) वृद्धतर सत्ता के अन्दर प्रवेश करने के उपयुक्त बनाती हैं।

आशाशक्ति पुरुषोत्तम के अन्दर निहित अव्यक्त सत्य को नीचे उतार कर उसे अपनी चेतना के अन्दर एक प्रकट रूप प्रदान करती हैं; महाशक्ति फिर उसी प्रकट सत्य को विश्व-लीला में मूर्तिमान् करती हैं। हम जिसे निश्चेतन जड़ प्रकृति कहते हैं

वह चिद्रूपिणी महाशक्ति की ही अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृति की सभी शक्तियाँ विश्वेश्वरी माँ के इशारे से परिचालित और नियंत्रित होती हैं तथा प्रकृति की परिणाम-धारा माँ द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर ही प्रवाहित हो रही है।

परन्तु हमारा यह स्थूल जगत् ही माँ की सारी सृष्टि नहीं है: विचित्र-विचित्र लोकों और भुवनों में उनकी लीला हो रही है। विश्व-जीला के सर्वांग शिखर पर है अनन्त लोक—अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का लोक। इस अनन्त लोक के ऊपर माँ अनावृत शाश्वत शक्ति के रूप में विराजमान हैं। अनन्त लोक के नीचे है अतिमानस विज्ञान-जगत्। माँ अतिमानस महाशक्ति के रूप में वहाँ की अधिष्ठात्री देवी हैं। अतिमानस जगत् में मिथ्या की तनिक भी छाया नहीं, भूल-अन्ति या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं, दुःख-यंत्रणा के अस्तेनाद का लेश तक नहीं। वहाँ पर सब कुछ कस्बे के सत्य की उपाति से उद्भासित हो रहा है; वहाँ पर समस्त अनुभूति अनन्त आनन्द की वाद में सराबोर हो रही है। अतिमानस जगत् के नीचे है हमारा यह अविद्या का जगत्—देह, प्राण और मन का जगत्—अंधकार, अपूर्णता और अनृपिका जगत्। वहाँ की भी वही चिन्मयी महाशक्ति अधिष्ठात्री देवी हैं: यहाँ का भी सब कुछ उन्हीं के निर्देशानुसार नियन्त्रित हो रहा है।

अदिति माता

परादे और अपराद्ध के मध्यवर्ती लोक में खड़ी होकर माँ हमारे इस अज्ञान के जगत् को आश्चर्यपूर्ण श्रृंगार के साथ परिचायित कर रही हैं। उनके इस कार्य में उनकी विभिन्न मूर्तियाँ और देवशक्तियाँ, विभिन्न सम्भूतियाँ (Emanations) और विभूतियाँ सहायता करती हैं, इन सब मूर्तियों और शक्तियों को वह सामने रख एक प्रच्छन्न अभिनेता के रूप में कार्य किया करती हैं। परन्तु यहाँ पर यह समझना भूल है कि माँ केवल ऊपर रहकर ही हमारे इस जगत् का शासन करती हैं। वह केवल विश्व की अधिष्ठात्री देवी ही नहीं हैं, वह विश्वव्यापिनी और विश्वरूपिणी भी हैं। वह हमारे इस अनृत के जगत् में नीचे उतरकर आसुरिक और दानवीय शक्तियों के आघात-अत्याचार के अन्दर से होकर अपना त्रन पूरा करने की अपसर होती हैं। माँ के अकुंठ आत्म-बलिदान के कारण ही, प्रकृति-यज्ञ के प्रभाव से ही हमारा यह जगत् और जीवन है। चिन्मयी माँ अज्ञान-अन्धकार के अन्दर स्वयं उतर आती हैं जिसमें हम अन्धकार को फिर से ज्ञान की पूर्ण ज्योति में परिणत कर सकें; वह हमारे जीवन की नश्वरता के अन्दर उतर आती हैं जिसमें इस नश्वर जीवन को अमर, अमृतमय बना सकें; वह विश्व के शोक-ताप, दुःख-यंत्रणा के अन्दर उतर आती हैं जिसमें सम्पूर्ण वेदना-की अपूर्व दिव्य आनन्द में रूपान्तरित कर सकें।

माँ की चार शक्तियाँ

माँ की विश्वासीत, विश्वव्यापी और व्यक्ति इस त्रिविध सत्ता के विषय में एक धारणा बनाने की चेष्टा हमने की है। अब हम संक्षेप में विश्वव्यापिनी माँ के शक्ति-चतुष्टय का पर्यालोचन करेंगे। पार्थिव लीला को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिये विश्वेश्वरी माँ की चार प्रधान शक्तियाँ उनके अग्रभाग में आकर खड़ी होती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाशक्ति के ये चार महारूप हैं—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। Wisdom, Strength, Harmony and Perfection—प्रज्ञान, प्रताप, सुसंगति और संसिद्धि ये शक्तिचतुष्टय के विभिन्न गुण हैं। इन्हीं दिव्य गुणों को लेकर ये चारों शक्तियाँ विश्व की जीवनधारा के अन्दर उतर आती हैं; माँ की जो विभूतियाँ हैं वे एक-एक गुण का स्फूर्जित धारण कर शक्तिमान् होती हैं; माँ के प्रति जिन लोगों की प्रकृति खुली हुई होती है वे लोग इन सब पेशवों के स्पर्श से नवजीवन प्राप्त करते हैं।

महेश्वरी अनन्त ज्ञानमयी हैं; इसी कारण वह मानसभूमि से ऊपर सीमाहीन विशालता के अन्दर, विज्ञोभहीन महान शक्ति के अन्दर निवास करती हैं। कोई भी चीज उन्हें डिगा नहीं सकती, क्योंकि सृष्टिका बिधान वह जानती है और सारा भविष्य बननी आँखों के सामने खुला हुआ है। विभिन्न वस्तुओं और

घटनाओं को तथा विभिन्न जीवों को वह उनके अन्दर निहित सत्त्व के अनुसार परिचायित करती हैं। ज्ञानी को वह गभीरतर ज्ञान का पता बताती हैं; असुर को वह दुःख के रास्ते से मंगल की ओर ले जाती हैं; मूढ़ को वह अन्धकार के भीतर से होकर आलोक की ओर ले जाती हैं। विरुद्ध शक्ति के प्रति मूढ़ निष्पुरुष विद्यार्थी देने पर भी महेश्वरी अपार अनन्त कल्याण की मूर्ति हैं। अवश्य ही कल्याण उनकी ज्ञान-दृष्टि को आच्छन्न नहीं कर सकती, अथवा उनके कर्मों का सत्त्व के पथ से हटा नहीं सकती। राक्षस या असुर के लिये जब वह अपने कठोर शब्दों से दण्ड देने की व्यवस्था करती हैं तब वह दण्ड-विधान उनकी ज्ञानगर्भ कल्याण की ही अभिव्यक्ति होता है, क्योंकि उस दण्ड को भोगने के कारण ही असुर के लिये वह संभव होता है कि वह अहंकार का त्याग कर सत्त्व के पथ में, आत्म-कल्याण के मार्ग में, विश्व-कल्याण के मार्ग में लौट आ सके।

महाकाशी प्रसन्नहृद प्रताप को अपने अन्दर धारण करती हैं। वह अप्रतिहत कद्रतेज और सर्वजनी शक्ति की ज्ञान हैं। हमारे जीवन में जो कुछ शुद्ध और संकीर्ण है, जो कुछ मिथ्या और तमोमग्न है, जो कुछ आसुरिक और भगवद्गिरांथी है सब को जड़ भर में संशुद्ध करके हमारी प्रकृति को एक समुन्नत भागवत महिमा के अन्दर उठा ले जाने का प्रयास महाकाशी

करती हैं। इसी कारण जो लोग भीरु, दुर्बल या आसुरिक प्रकृति वाले हैं उनके मन में महाकाली का नाम भय का संचार करना है; परन्तु जो लोग शक्तिमान् और वीर साधक हैं वे लोग उनका अत्यधिक आदर करते हैं, सबसे आगे उन्हीं को पूजा का आसन प्रदान करते हैं। महाकाली के एक हाथ में जैसे भयावह शासन-दण्ड है, वैसे ही उनके दूसरे हाथ में स्नेह का कोमल स्पर्श है। मिथ्याचार के विरुद्ध जैसे उनका क्रोध तीव्र होता है वैसे ही अभयदान के लिए उनका एक हाथ सदा खुला होता है, क्योंकि एक ही साथ वह प्रलयङ्करी और स्नेहमयी व करुणामयी हैं। महाकाली की कृपा से अनेक शताब्दियों की तपस्या का फल एक दिन में पाया जा सकता है; उनकी दिव्य प्रचण्डता और क्षिप्रता हमारी कल्पना के बाहर की चीज है। वह कर्म को आशुफल-प्रद, आनन्द को तीव्रतम, ज्ञान को विश्वविजयी, सिद्धि को सर्वाङ्गसुन्दर बनाती हैं तथा सौन्दर्य को एक समुन्नत ऊर्ध्वगति प्रदान करती हैं।

गङ्गाधर की विशेषता है अनुपम सुषमा और सुसंगति। उनके विश्वविमोहन सौन्दर्य को यदि अलग कर दिया जाय तो प्रदान और प्रताप अपूर्ण ही रह जायेंगे। उनकी दुर्निवार आकर्षण-शक्ति ही जगत् की सब वस्तुओं को, सब शक्तियों को, सब जीवों को एक साथ पकड़े रखती है, उन सब को परस्पर

अद्विती ज्ञाता

मिलित होने के लिये बाध्य करती है, जिसमें मां का प्रचक्ष्ण आनन्द विविध रूपों और छन्दों में लीलायित हो सके। मां के विभिन्न महारूपों में महालक्ष्मी का आकर्षण ही जीव के लिये सब से अधिक प्रबल होता है। महेश्वरी इतनी महान् और दुराधगम्य हैं कि पृथ्वी का कुछ जीव उनके समीप जाते हुए संकोच करता है अथवा उन्हें धारण करने में असमर्थ होता है; महाकाली इतनी प्रचण्ड और तीव्र हैं कि दुर्बल मनुष्य उनका स्पर्श सहन नहीं कर पाता; किन्तु महालक्ष्मी की ओर सभी एक दुर्निवार मोहिनी शक्ति के द्वारा आकृष्ट होते हैं। उन की दृष्टि से जीवन माधुर्य से भर जाता है, उनके स्पर्श से साधक के भीतर आनन्द का भरना शुरू जाता है। परन्तु इन आभय महालक्ष्मी को सन्तुष्ट करना अथवा उन्हें अपने अन्दर धारण करना आसान काम नहीं है। उनकी पूजा करनी होती है अन्तर के सौन्दर्य के द्वारा, मन और आत्मा के अन्दर सुसंगति स्थापित करके, विभिन्न विचारों और भावनाओं में, विभिन्न कार्यों तथा बातों में, जीवन के भीतर और बाहर सामंजस्यकी प्रतिष्ठा करके। जहां पर सुसंगति और प्रेम का अभाव होता है, जहां पर विरोध और संघर्ष होता है, वहां से देवी दूर रहती जाती है। जो कुछ कुटिमल और बीभत्स है, जो कुछ लज्जा और मलिन है वह सब देवी के मन में एक प्रकार की दिव्य घृणा को उत्पन्न करता है;

उनके सामने वह अपने आपको एक पर्दे के अन्दर छिपा सकती हैं। महाकल्मी का कार्य है प्रेम और सौन्दर्य के द्वारा मनुष्य को भगवान् के साथ युक्त कर देना। अतएव एक ओर जैसे वह भोगविज्ञासी की उच्छृङ्खलता से पृष्ठा के साथ किनारा काट कर चली जाती हैं वैसे ही दूसरी ओर तपस्वी की अनावश्यक क्लृप्ता और कठोरता का भी समर्थन नहीं करती। उन्हें ब्रह्म करने का उपाय यह है कि मनकी सौन्दर्यानुभूति और हृदय के गंभीरतर आवेगों का कठोरतापूर्वक दमन या निषेध न करके इन्हें भगवन्मुखी कर दिव्य महिमा में रूपान्तरित किया जाय।

महासरस्वती की विशेषता है संक्षिप्ति (Perfection of work)। सभी कार्यों का सर्वाङ्गसुन्दर बनाना, प्रत्येक वस्तु को व्योरेवार समय के अन्दर यथास्थान सन्निविष्ट करना, सब प्रकार से सारे दोषों और त्रुटियों को दूर करना उनका प्रधान व्रत है। मौ की वह कर्मशक्ति है, इस कारण एक ओर जैसे वह मां की चारों शक्तियोंमें सब से छोटी हैं, वैसे ही दूसरी ओर स्थूल वायु प्रकृति तथा मनुष्य के कर्मजीवन के अन्तर्गत निकट है। मौ की अम्यान्व शक्तियोंके सभी कर्म अपनी पूर्णताके लिए महासरस्वती के ऊपर निर्भर करते हैं। महेश्वरी विभिन्न जागतिक शक्तियों की बृहत् धाराओं को निरिषय कर देती हैं, महाकाली उन्हें गति और वेग प्रदान करती हैं, महालक्ष्मी उनके अन्त और परिमाय

अद्विती माता

की रक्षा करती हैं और महासरस्वती सर्वेश यह ध्यान रखती हैं कि उन सब जागतिक शक्तियों का बचावय समायेश और प्रयोग करके माँ की इच्छा को अत्यन्त सुन्दर रूप में वास्तविकता में परिणत किया जा सके। मृष्टि को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने के लिए वह अनन्त काल तक परिश्रम करने के लिये तैयार हैं। महासरस्वतीके प्रसादसे मनुष्य सभी कर्मों में अपूर्व दक्षता प्राप्त करता है, तथा सभी विषयोंमें आश्चर्यजनक सूक्ष्म बोध और पृथ्वानुपृथ्व ज्ञान प्राप्त करता है। अथर्व ही उनका प्रसाद प्राप्त करनेके लिए हमारा संकल्प होना चाहिए अन्वभिचारी तथा हमारी इच्छा होनी चाहिए एकनिष्ठ द्विधाहीन और आन्तरिक। वह मनुष्य के अत्यन्त निकट उतर आती हैं और अमीम भयंके माथ उसकी प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के क्रम में सहायता करती हैं। हमारे हजारों दोषो-वृष्टियों, हजारों अक्षकलताओं के होने पर भी वह निराश या विमुख नहीं होती, हाथ पकड़ कर, महा क्रमाह देने लगें हमें जीवन की पूर्णता की ओर ले जाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

अतिमानस महाशक्ति

हम पहले ही कह चुके हैं कि माँ की असंख्य शक्तियाँ, रूप और विग्रह हैं। अथर्व ही विश्व का परिनामन करने में प्रकट रूपसे जो शक्तियाँ माँकी सहायता किया करती हैं उनमें महेश्वरी,

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ही सब से प्रधान हैं। परन्तु इस शक्तिचतुष्टय के अतिरिक्त भी माँ के अन्यान्य महारूप हैं। उनका अवतरण कराना अधिक कठिन है और अब तक पार्थिव जीवन के क्रमविकास में उन्होंने प्रकट रूप में कोई सहायता नहीं की है। किन्तु तो भी पूर्णयोग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अर्थात् अतिमानस विज्ञान को पार्थिव चेतना में प्रतिष्ठित कर भागवत जीवन की रचना करने के लिये माँ की उन सब विरल शक्तियों में से कुछ का आदिर्भाव अत्यन्त आवश्यक है। उनमें से भी एक शक्ति की बात यहाँ विशेष रूपसे कहने की जरूरत है; वह है माँ के दर्जिय और दुर्गर आनन्द की मूर्ति। वह आनन्द एक अपूर्व भागवत प्रेम से उत्पन्न हुआ है; विश्व की अन्यान्य शक्तियों का प्रच्छन्न आभयस्थल वही आनन्द है; और केवल वही आनन्द ज्योतिर्मय अतिमानस चेतना और निरन्तर जड़ के मध्यवर्ती विपुल व्यवधान को दूर कर अतिमानस सिद्धि या अनुपम दिव्य जीवन की प्रतिष्ठा को संभव कर सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य की प्रकृति इतनी लुप्त और तमसायुत हो रही है कि माँ की वृद्धम शक्तियों का धारण करने में वह असमर्थ है। इनारा शरीर, प्राण और मन ये जब अथेष्ट रूपान्तरित होकर माँ की चारों शक्तियों की स्वच्छन्द लीला के क्षेत्र बन जायेंगे तभी माँ की वृद्धतर शक्तियाँ पृथ्वी पर

अद्विती माता

उतरकर अतिमानस सिद्धि का मार्ग खोल देगी। उस समय
मां स्वयं अपने सभी विग्रहों को अपने अन्दर अपूर्व सामंजस्य के
साथ एकत्रित कर अतिमानस महाशक्ति के रूप में आत्म-प्रकाश
करेगी तथा मानवीय प्रकृतिके सभी स्तरोंको अतिमानस ज्योति-
प्रवाह से उद्भासित कर हमारे पार्थिव जीवन को अमृतमय बना
देगी। निःशेष आत्मसमर्पण के द्वारा इन अतिमानस महाशक्ति
का आवाहन करना तथा उनके साथ सचेतन सहयोग करना ही
अतिमानस-योग का प्राण है, यही उसका मूलमंत्र है।



माँ का आवाहन-गीत

आओ मैया आओ ।

हृदय गगन में आओ ॥

अन्तस्य शत्रु से मुक्त कर माँ ! सुम शक्ति उन्मुक्त कर ।
शिव-विश्व-चेतना युक्त कर अपनी ज्योति जगाओ ॥

आओ मैया आओ ।

हृदय कमल पर आओ ॥

प्राणीकी, मनकी स्तरी उठा सबमें, तू अपनी भलक दिखा ।
गेरा में, मुझ से दूर हटा घट घट में छा जाओ ॥

आओ मैया आओ ।

अना रूप दिखाओ ॥

हमको, अपनाशक स्वप्न बना अज्ञानविनाशी दीप बना ।
अपने हाथों का यंत्र बना अपना कार्य कराओ ॥

आओ मैया आओ ।

रग रग में रम जाओ ॥

अदिति की पुकार

‘अदिति’ जीवन और संसार के संबंध में एक निश्चित दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करती है। वह दृष्टिकोण योगिराज श्रीकरबिन्दु का आध्यात्मिक अनुभव है। उस अनुभवकी सत्ता ‘अदिति’ के दृष्टिकोण का बल है। उस अनुभव में मनुष्यमात्र का सम्बन्ध और तेजोमय भविष्य निहित है। उस उद्देश्य को बतलाना, वास्तव में उसे प्राप्त करने का रास्ता दिखलाना, श्रीकरबिन्दु का सन्देश है। उसी को सर्वसामान्य विज्ञानियों के क्रिये उद्दिष्ट करना ‘अदिति’ का कार्य है।

आज पश्चिम में अनेक दिशाओं से बुद्धिवाद का स्फटन होता दिखाई देता है। बरगसों (Bergson) बुद्धि (intellect) को वास्तव-जगत् के सम्बन्ध में व्यवहार करने के लिये एक द्वितीयमक साधन बतलाता है। सत्ता वास्तव में एक अन्तर्दृष्टि के स्पर्शानु अनुभव (intuition) से जानी जा सकती है। वर्तमान भौतिक शास्त्र के प्रगाढ़ बलिहत आइंनस्टाईन (Einstein) का कहना है कि वैज्ञानिक विधि (Scientific Method) से सत्ताके प्रत्यक्ष स्वरूप को ही जाना जा सकता है न कि उसके आन्तरिक मर्म को। अभी हाथ से एक सुन्दर छोटी-सी पुस्तक ‘पेकीवन कीरीक’

अविति माता

में देखने में आई। उस का नाम है Beyond the isms (बादों से परे) : बड़ा सुन्दर नाम है। उस में विद्वान् लेखक बड़े बल-पूर्वक दर्शाता है कि वर्तमान संसार के कोटि दुःखों को दूर करने का दावा करते हुए आज बादों पर बाद उपस्थित होते चले जाते हैं। परन्तु वे सब अपनी-अपनी बोलियाँ बोल, कुछ दिन चढ़-चढ़ा, चल बसते हैं। पहले विरोधों और संकटों को दूर करते करते दो चार और नये विरोध संसार को अपने वे जाते हैं। इस प्रकार जीवन संकटमय से अधिक संकटमय बनता चला जाता है। ये सब, लेखकमहोदय का कहना है। बुद्धि की उपज हैं। ये इस कारण से आंशिक और एकाङ्गी हैं। बुद्धि के हल मद्दा ऐसे ही होंगे। वास्तवमें आत्मा ही एक सत्ता है जो अपने अन्दर जीवन की अन्य सब गतियों को एक समन्वय में ला सकती है। अतः हमें आत्मा के विचार तक उठना होगा। वहाँ पर ही हमारे सब कष्टों का यथार्थ हल मिलेगा।

जहाँ यह सब विचार बड़ा सुन्दर है वहाँ यह भी प्रत्यक्ष ही है कि विचारक विचार और बुद्धि के अन्दर ही घूमता-फिरता उन की सीमा को अनुभव कर रहा है। वास्तव में आवश्यकता उस आत्म-सत्यको हृदयंगम करने की है। ठीक यही बात भी अरविन्द ने अपने जीवन-प्रभात में अनुभव की थी और उसे ही आज वे अधिकृत सत्य के रूप में उपस्थित करते हैं। वही चरितार्थ

अद्विती की पुकार

आध्यात्मिक जीवन का इस संसार की आशा है। श्रीअरविन्द की यही आज चेतावनी है। यही उस्ताही पुरुषों को आज बन की चुनौती है।

इस हल का महासाधन है योग। श्रीअरविन्द के लिये जीवन और सत्तामात्र योगमय हैं। All life is yoga। प्रकृति ने विकास में उत्तरोत्तर महत्तर और अधिक बलवती चेतना को पैदा किया है। यह उस की योग-क्रिया है। परन्तु मनुष्य में वह योग सचेत किया बन जाती है। उस से विकास की गति तेज हो सकती है। मनुष्य प्रकृति और सत्ता का सचेत सहयोगी बन सकता है। ऐसा बनने के लिये ही आज श्रीअरविन्द का आवाहन है। उन की पुकार है “ओ मनुष्य, तू अपनी सत्ता के मर्म को समझ, तू आत्मा को पहिचान। शरीर, प्राण और मन तेरी सभी सत्ता नहीं हैं। आत्मा तेरा केन्द्र है, वहाँ स्थित होने से तू अपने सभी अंगों को यथार्थ रूप से अधिकृत करेगा। मनुष्य, तू अपने इस स्वर्णमय भविष्य को चरितार्थ कर। यह तुझे प्राप्ति है, पूरी तरह से प्राप्य भी है।”

यह योमिराज श्रीअरविन्द की पुकार व्यक्तिको है तथा एक समान समाज को भी। हमारे सामाजिक दुःख आज क्या रूप धारण किये हुए हैं। इन दुःखों को दूर करने के उपाय हमारे अनेक ‘वाद’ (isms) हैं। परन्तु वाद अपने स्वरूप से ही

अद्विती माता

आंशिक और आंगिक चीज हैं। वे विरोध और संकट से जन्म पाते हैं और संघर्ष से बढ़ते तथा शक्तिशाली बनते हैं। वे सम्पूर्णता और समतुलन भला कैसे पैदा कर सकते हैं ? वे तो सुद्धि में अपना अस्तित्व रक्षते हैं। परन्तु आत्मा ही वह विशाल और गम्भीर आधार है जो संपूर्ण व्यक्तित्व तथा सत्ता को अधिकृत करता है। इस वास्ते श्रीअरविन्द की पुकार है आत्म-जीवन अद्वितीय करो। यही हमारे सब प्रश्नों, वैयक्तिक तथा सामाजिक का यथार्थ हल है। अन्य हमारे सब हल अधूरे हैं, अधकचरे हैं, समझौते से हैं। इन सब प्रश्नों का सच्चा हल ढूँढ़ने वाले बीरों का रास्ता आत्म-विजय है। यह आत्म-विक्रय संसार-भगोड़ों को प्राप्त नहीं हो सकती। उपनिषद् का ही प्रसिद्ध कथन है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

श्रीअरविन्द की यह पुकार वास्तव में हमारी, कन्दर से, अपनी आत्मा की पुकार है, संपूर्ण सत्ता-भ्रम की पुकार है। इस को सुनना और इस का अनुकरण करना 'जीवन' की पहली शर्त है। यही सच्चा पुरुषार्थ भी है।

श्रीअरविन्द के सुन्दर शब्द हैं—“The ascent to the divine life is the human journey, the work of works, the acceptable Sacrifice. This alone is man's real business in the world and the

अदिति की पुकार

justification of his existence,” “दिव्य जीवन को पाने के लिये आरोहण करना, यही है मनुष्यकी यात्रा, कार्यों का कार्य, उसका वरणीय ब्रह्म । एकमात्र यही मनुष्य का संसार में असली काज है, इसी में ही उस की सत्ता की सार्थकता है ।”

यह है मनुष्य-जीवन की सच्ची यात्रा । इस यात्रा के हम सच्चे यात्री बन सकें यही हमारी अभीप्सा है । और यदि ‘अदिति’ इस में सहायक बन रही है तो यह जरूर अपने उद्देश्य को किसी अंत में पूरा कर रही है ।



मां ! मैं तेरा

हर स्वर मेरा उच्चार करे,	हर सांस मम झंकार करे ।
मेरा हर रोम पुकार करे,	'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥
मन मृदंग के सब तालों में,	हृत्तंत्री के सब तारों में ।
धुन यही एक गुञ्जार करे,	'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥
जीवन के शरद वसन्तों में,	गरमी जल शिशिर हिमन्तों में ।
हृत्-कुञ्जमें कोकिल बूक करे,	'मैं तेरा मां ! मैं तेरा' ॥
आवेदन चरखों में मेरा,	टूटे मां ! सीमा का घेरा ।
पुलकित हो सकल पुकार करे,	'मैं तेरा माँ ! मैं तेरा' ॥

[यह गीत श्री दिलीपकुमारजी ने २५ जुलाई १९४३ को रेडियो पर गाया था और फिर उनके गान में 'दिन मास्टर्स वायस' के रिकार्ड में भरा जा चुका है ।]

